शान्ति प्रसाद अग्रवाल

भारतीय संस्कृति के तत्व

स्टूडेन्ट स्टोर,
बरेली

भारतीय संस्कृति के तत्व

(रुहेलखण्ड, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा बी० ए० के संस्कृत के पाठ्यक्रम में निर्धारित "हिन्दू संस्कृति के तत्व" नामक विषय पर प्रश्नोत्तर-रूप में सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक)

लेखक
शान्ति प्रसाद अग्रवाल
एम० ए०

प्राक्कथन लेखक
लक्ष्मीचन्द्र कौशिक
एम० ए० (संस्कृत तथा हिन्दी); साहित्याचार्य,
प्राध्यापक संस्कृत-विभाग
बरेली कालिज, बरेली

षष्ठम संस्करण

प्रकाशक
स्टूडेन्ट स्टोर,
रामपुरबाग, बरेली।

प्रकाशक : स्टूडेन्ट स्टोर, बरेली

षष्ठम संस्करण—१९७९-८०

मूल्य—छः रुपया

मुद्रक : हिमालय मुद्रणालय, बरेली

प्राक्कथन

भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने पर भारतवासी अपनी संस्कृति के प्रति सजग तथा विश्व के मनीषी इस संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिये तत्पर हो उठे हैं, यह बात सर्वथा स्वाभाविक है। इस विषय में तो कोई विवाद नहीं है कि भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में अन्यतम है और भारतवर्ष की पवित्र भूमि में इस संस्कृति की अजस्र धारा अनन्त काल से प्रवाहित हो रही है। प्रागैतिहासिक काल से साधुनिक काल तक अनेक सभ्यतायें यहां आविर्भूत हुईं और इस देश की संस्कृति में महत्वपूर्ण योग देकर विलीन हो गईं। पुरातत्व के अनुसार भारतवर्ष अनेक संस्कृतियों का संगम-स्थल रहा है। इस भारतीय संस्कृति में आर्य एवं अनार्य, वैदिक एवं अवैदिक, देव एवं असुर आदि अनेक सामाजिक व्यष्टियों का गंगा-यमुनीय समागम उपलब्ध होता है। इस प्रकार भारतवर्ष की संस्कृति की यह मिलो-जुली धारा इस विशाण देश के कण-कण को अनुप्राणित करती रही है और विश्व को अन्य संस्कृतियों के साथ निरन्तर प्रगतिशील रहकर विश्व के कल्याण में महत्वपूर्ण सहयोग देती रही है।

भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र विविध विरोधियों का समन्वय रहा है। वैसे तो प्रत्येक संस्कृति में यह समन्वय दृष्टिगोचर होता है और कोई भी संस्कृति एकांगी नहीं होती फिर भी समन्वय की यह विशेषता भारतीय संस्कृति में प्रधानतया समाहित हो गई है। इस संस्कृति में अनेक परस्पर विरोधी द्वन्द्वों का अपूर्व समन्वय दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ कर्म एवं सन्यास; सांसारिक जीवन की उपादेयता एवं हेयता; वैदिक ऋषि-सम्प्रदाय एवं अवैदिक मुनि-सम्प्रदाय की परस्पर विरोधी आस्थायें, विश्वास एवं भावनायें; वर्ण आश्रम एवं जाति का द्वन्द्व, पुरुषविधि देवताओं एवं स्त्रीविधि देवताओं की पूजा एवं उपासनाओं का परस्पर विरोधी संविधान; तथा वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में उपलब्ध होने वाला ग्राम एवं नगर का द्वन्द्व जिसका सुन्दर समन्वय भारतीय संस्कृति में पाया जाता है। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही उपर्युक्त वैदिक एवं प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय प्रारम्भ हो गया था जैसा कि डा० मंगलदेव शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति का विकास—वैदिक धारा' में लिखा है—"परस्पर आदान-प्रदान से ये दोनों धाराएं आगे बढ़ती हुई अन्त में पौराणिक हिन्दू धर्म में समन्वित होकर आपततः एक धारा में ही विकसित हुईं। इस समन्वय का प्रभाव धर्म, आचार-विचार, भाषा और रक्त तक पर पडा।" (देखिये पृ० १३) अतएव अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष के धर्म को निगमागमसम्मत माना गया है। इस धर्म का आधार केवल श्रुति ही नहीं है बल्कि स्मृति और पुराण भी हैं। फलतः भारतीय संस्कृति को न तो विशुद्ध आर्य-संस्कृति एवं न अनार्य-संस्कृति ही कहा जा सकता है, प्रत्युत इन दोनों संस्कृतियों की समन्वित धारा ही वस्तुतः भारतीय संस्कृति है जो अनन्तकाल

से निरन्तर प्रगतिशील है और भविष्य में भी अनेक धाराओं को आत्मसात् करती हुई आगे बढ़ती रहेगी। इस संस्कृति में त्याग, तपस्या, अध्यात्म एवं आधिभौतिक, लौकिक एवं अलौकिक तथा नास्तिक एवं आस्तिक विचारधाराओं का अद्‌भुत समन्वय हुआ है, जिसने इस संस्कृति को एक अत्यन्त विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है। विश्व की अन्य संस्कृतियों ने भी उदाहरणार्थं मुस्लिम एवं ईसाई संस्कृतियों ने विविध ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया और उससे इस संस्कृति को लाभ ही हुआ है। इस प्रकार भारतवर्ष की संस्कृति की समन्वय की विशेषता भली भांति स्पष्ट हो जाती है और किसी भी सांस्कृतिक अध्ययन में इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

स्वतन्त्र भारतवर्ष में भारतीय संस्कृति के इस समन्वयात्मक स्वरूप को सरल एवं मनोरंजक शैली में प्रस्तुत करने की आवश्यकता स्पष्ट है। अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों की स्नातक-परीक्षा में भारतीय संस्कृति के स्वरूप का अनुशीलन अनिवार्य विषय के रूप में अंगीकृत किया गया है। इस दृष्टि से ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जिसमें अनेक ग्रन्थों में विकीर्ण सामग्री, समन्वित रूप में एक ही स्थान पर उपलब्ध हो सके और भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप स्वतन्त्र भारत के नवोदित विद्यार्थियों के समक्ष हृदयंगम रूप में उपस्थित हो। इस दृष्टि से मेरे प्रिय शिष्य श्री शान्ति प्रसाद अग्रवाल, एम० ए० का "भारतीय संस्कृति के तत्त्व" नामक पुस्तक के रूप में यह प्रयास सर्वथा सामयिक एवं प्रशंसनीय है। इस पुस्तक पर साधारण दृष्टिपात से ही, उन्होंने जिस अध्यवसाय से यह पुस्तक लिखी है उसका स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। फलतः अनेक ग्रन्थों के नवनीत के रूप में प्रस्तुत इसका प्रकाशन स्वागत के योग्य है। प्रश्नोत्तर रूप ने इस पुस्तक को और भी अधिक उपयोगी बना दिया है। आशा है कि यह पुस्तक बी० ए० के उन विद्यार्थियों के लिये, जिन्होंने भारतीय संस्कृति विषय को अपने पाठ्यक्रम में स्वीकार किया है, अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। साधारण पाठक भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है।

लक्ष्मीचन्द्र कौशिक
एम० ए० साहित्याचार्य
प्राध्यापक संस्कृत विभाग
बरेली कालिज, बरेली।

अनुक्रमणिका

तृतीय भाग

चतुर्थ भाग

पंचम भाग

षष्ठम भाग

ॐ

श्रीसरस्वत्यै नमः

१

- 'संस्कृति' शब्द का अर्थ तथा संस्कृति एवं सम्यता में अन्तर
- भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें
- भारतीय संस्कृति का महत्व
- भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रभाव
- भारतीय संस्कृति, आर्य संस्कृति एवं हिन्दू संस्कृति में समन्वय
- हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्मों में आपस में सम्बन्ध

प्रश्न १. 'संस्कृति' शब्द का क्या अर्थ है ? संस्कृति एवं सभ्यता का अन्तर स्पष्ट कीजिये ।

उत्तर—'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से 'संस्कृति' शब्द बनता है । इसका अर्थ होता है—भूषणभूत सम्यक् कृति । इसलिये भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है । इस प्रकार भूषणभूत सभ्यक् कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है । जिन चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टायें ही उसके लिये भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएं कही जा सकती हैं । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही सस्कृति है । श्री राजगोपालाचार्य के शब्दों में 'किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम संस्कृति है ।' डा० सम्पूर्णानन्द के मत में 'संस्कृति' उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टिनिक्षेप करता है । डा० परमानन्द मिश्र 'संस्कृति' शब्द का अर्थ 'परम्परागत अनुस्यूत संस्कार' से करते हैं और बतलाते हैं कि समाज के जीवन में व्याप्त उन्हीं

परम्परागत संस्कारों के रूप को 'संस्कृत' नाम से पुकारा जाता है । प्रो० शिवदत्त ज्ञानी के अनुसार संस्कृति का शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का बोधक है । उससे मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है जिससे उसे 'सुधरा हुआ', 'ऊंचा', 'सभ्य' आदि विशेषणों से अलंकृत किया जा सकता हो ।

निरन्तर प्रगतिशील मानव जीवन प्रकृति और मानवसमाज के जिन-जिन असंख्य प्रभावों और संस्कारों से संस्कृत तथा प्रभावित होता रहता है उन सबके एक सामूहिक स्वरूप को ही हम संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते हैं । युगों से मानव का अनवरत चिन्तन और अनवरत कर्म व्यापार कभी प्रकृति के प्रभाव से प्रभावित, कभी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित एवं कभी नाना स्थलों के निवासियों के पारस्परिक सम्पर्क से सम्पन्न होता है । संस्कृति इन्हीं समष्टिगत समान अनुभवों से उत्पन्न होती है । डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में, 'एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के गिरि, निर्झर, नदी, सागर को देखने वाले, एक ही प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सुख-दुःख को भोगे हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक सा होता है । यही उन लोगों की संस्कृति के निर्माण में सहायक होता है ।

संस्कृति बहुत कुछ परिवर्तनशील रहती है । इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें परिवर्तन होता ही नहीं । उसमें परिवर्तन होता अवश्य है । परन्तु बहुत मन्द गति से । उदाहरणार्थ यूरोप वही है लेकिन ६०० वर्ष पूर्व की, और आज की यूरोपीय संस्कृति में पर्याप्त भिन्नता है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संस्कृति के मूलतत्व सब देशों एवं कालों में एक से रहते हैं, देश-काल के अनुसार उनके बाह्य स्वरूप में अन्तर होता है ।

इस उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संस्कृति किसी समुदाय विशेष की मानसिक बनावट (mental attitude) है जो व्यापारिक रूप में जीवन के समस्त पहलुओं में प्रकट होती है और उस समुदाय विशेष की प्राचीन व नवीन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप होती है ।

संस्कृति और सभ्यता--

प्रायः संस्कृति एवं सभ्यता शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है; दोनों शब्दों के अर्थों में पर्याप्त अन्तर है । 'सभ्यता' मूल रूप में तो व्यवहार की दक्षता (साधुता) की द्योतक है (सभायां साधुः (निपुणः) सभ्यः सभ्यस्य भावः कर्म वा सभ्यता) परन्तु व्यापक अर्थ में इससे रहन सहन की उच्चता एवं सुखमय जीवन के व्यतीत रहने के साधनों अर्थात ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति का बोध होता है । जब हम कहते हैं कि अमुक जाति सभ्य है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह जाति अपने दैनिक जीवन में सुधरे हुये साधनों का व्यवहार करती है अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसके पास वैज्ञानिक

साधन है—वह सदा इस बात के लिये प्रयत्नशील रहती है कि शरीर को अधिक से से अधिक सुख मिले ।

सभ्यता संस्कृति का बाह्य पक्ष है । संस्कृति मनुष्य के अखिल जीवन को संस्कारित करती है और सभ्यता से केवल बाह्याचार लक्षित होता है । एक लेखक के शब्दों में 'Civilisation is an expression of flesh, while culture is the manifestation of Soul.'

अर्थात् सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है जबकि संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका । किसी देश एवं काल की सभ्यता किसी के लिये अहितकारी भी हो सकती है; किन्तु संस्कृति सर्वदेश एवं सर्वकाल में सभी के लिये सर्वथा हितकर होती है ।

इस प्रकार संस्कृति एवं सभ्यता में पर्याप्त अन्तर है तथापि उसमें अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध है । यदि एक आत्मा है तो दूसरी उसका शरीर । जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं है उसी प्रकार संस्कृति के आधार से विरहित सभ्यता व्यर्थ है । विनय एवं शील के बिना सुन्दर परिधान एवं सुसज्जित गृह इत्यादि ही मानव को सभ्य नहीं बना सकते । विनय व शील के ही बाह्य रूप को शिष्टाचार कहते हैं । शिष्टाचार का मतलब है शिष्टों का आचरण, किन्तु इसमें रूढ़ि या परम्परा की भावना लगी रहती है । दूसरी ओर जिस प्रकार शरीर के अभाव में आत्मा अपनी शक्तियों का प्रदर्शन नहीं कर सकती उसी प्रकार बिना सभ्यता के संस्कृति को कार्य रूप नहीं दिया जा सकता ।

इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे की पूरक हैं ।

प्रश्न २. भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिये ।

उत्तर—भारतवासियों के अतीत काल से लेकर वर्तमान समय तक के परम्परागत संस्कारों का नाम भारतीय संस्कृति है । विश्व की संस्कृतियों में यह सबसे प्राचीन है । समय-समय पर विजेता लोग बिदेशी संस्कृतियों की धारायें लाये परन्तु वे सब भारतीय संस्कृति के महासागर में पड़कर विलीन हो गईं । उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खोकर अपने को भारतीयता से रंग लिया । मानव जीवन के इतिहास में प्रचण्ड झज्झावात आये, युगों में परिवर्तन हुआ, बहुत सी संस्कृतियों में उलट फेर हुये, किन्तु भारतीय सस्कृति सदैव अविछिन्न गति से प्रवाहित होती रही है और मनुष्य के एक बड़े समुदाय को अनुप्राणित एवं विकसित करती रही है ।

प्रायः हिन्दू संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति को दो भिन्न संस्कृतियां समझा जाता है । परन्तु बात ऐसी नहीं है । भारतीय संस्कृति और हिन्दू संस्कृति दोनों का एक ही अर्थ है । डा० सम्पूर्णानन्द का कहना है कि भारतीय संस्कृति का ताना वही

है जिसे आर्य या हिन्दू नाम से उपलक्षित किया जा सकता है। बाने के सूत इधर उधर से आये हैं, पर वे सब ताने पर आश्रित हैं। गङ्गा में बहुत सी छोटी बड़ी नदियां मिलती हैं; परन्तु मिलने पर जो पयस्विनी बनती है, वह गङ्गा ही कही जाती है। इस न्याय से भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति भी कह सकते हैं। भारत के बाहर जब लोग 'भारतीय संस्कृति' का नाम लेते हैं तो निश्चय ही उनका संकेत इस संस्कृति की मुख्य धारा की ओर उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि 'भारतीय दर्शन की चर्चा के सामने सांख्य, योग, वेदान्तादि आर्य दर्शन होते हैं।'

इस भारतीय संस्कृति ने अपने को धर्म, वाङ्मय, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि विविध रूपों में व्यक्त किया है। देश और काल के अनुसार इसके स्वरूप में हेर फेर भी होता रहता है किन्तु देश कालानुगत भेदों के होते हुये भी भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि वह भिन्नता में भी एकता का दर्शन करती है।

इस भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं, जो अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा विशिष्टता प्रदान करती हैं, निम्नलिखित हैं—

१. अति प्राचीनता—भारतीय संस्कृति की सर्वप्रथम विशेषता उसकी अति प्राचीनता और फिर भो दीर्घजीविता है। प्राचीनता में इसकी समता चीन के अतिरिक्त किसी दूसरे देश की संस्कृति नहीं कर सकती। इसने यूनान और रोम का उत्थान तथा पतन देखा है। जरथुस्त्री, यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के आविर्भाव से पहले इसका जन्म हो चुका था। मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद तो यह मिस्र और मैसोपोटामिया की सभ्यता से भी अधिक पुरानी सिद्ध हो गई, लेकिन इतनी प्राचीन होते हुए भी यह आज तक जीवित है। इसके साथ की सुमेर, बाबुल, मिश्र, यूनान, रोम आदि की गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृतियां अब केवल खण्डहरों के रूप में शेष रह गई हैं उनके निर्माता नष्ट हो गए हैं और यूरोपियन विद्वान उनकी कब्रें खोदकर उनका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति की परम्परा मोहनजोदड़ो काल से लेकर आज तक कई सहस्राब्दियों का सुदीर्घ काल बीत जाने पर भी अक्षुण्ण है।

२. आध्यात्मिकता—भारतीय संस्कृति की द्वितीय विशेषता उसकी आध्यात्मिकता है। हमारी सामूहिक आत्मा का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर है। हम जीवन के सारे प्रश्नों को आध्यात्मिकता की कसौटी पर परखते हैं। भौतिकता की ओर हमारी प्रवृत्ति कम है। इस आध्यात्मिकता में अद्वैतवाद की धारणा प्रधान है। यद्यपि और भी अनेक वाद प्रचलित हुये सबमें अद्वैत भावना की ही पुष्टि प्राप्त होती है। जीव एवं परमात्मा एक हैं, ब्रह्म ही सब कुछ है। सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति उसी से हुई है उसी में यह निखिल विश्व स्थित है और उसी में विलीन हो जाता है। तैत्तिरियोपनिषद् में कहा गया है, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जतानि जीवन्ति यत्, प्रत्यभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्म।' उस परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति ही

मानव जीवन का लक्ष्य है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय जनता अर्थ और काम को कोई महत्व नहीं देती। भारतीय संस्कृति में साँसारिक उन्नति के प्रति उपेक्षा का भाव बिल्कुल नहीं है, परन्तु लौकिक उन्नति का मूल आधार आध्यात्मिक था जिससे समाज बिना किसी जटिलता के सुचारु-रूपेण उन्नति करता रहा।

अद्वैतमूलक इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कई महत्वपूर्ण परिणाम हुये। इसका सर्वप्रथम परिणाम है सहिष्णुता अर्थात् दूसरे सम्प्रदायों एवं मतों के प्रति कट्टरपन का अभाव। प्रत्येक हिन्दू इस भावना से ओतप्रोत है कि—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

अर्थात् अपनी रुचि के अनुकूल लोग टेढ़ा या सीधा मार्ग अपनाते हैं, किन्तु जिस प्रकार नदियां समुद्र में पहुँचती हैं उसी प्रकार तुम्हीं (परमेश्वर) सबकी पहुंच के निर्दिष्ट स्थान हो। एक हिन्दू के लिए दूसरे के धर्म को सर्वथा मिथ्या मानना, दूसरे की उपासना शैली को सर्वथा नरक ले जाने वाली समझना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। इस सहिष्णुता की भावना के कारण ही यवन, शक, हूण, कुषाण आदि जातियां भारतीय समाज का अंग बन गयीं और उनके अनेक विश्वास एवं अनुष्ठान सनातन वैदिक धर्म में सम्मिलित कर लिये गये। अपनी इस विशेषता के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है।

इस प्रवृत्ति का दूसरा परिणाम है अहिंसा और दया की भावना। सामान्यतः हिन्दू की प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक ही होती है आक्रमणात्मक नहीं। यद्यपि यह मोहवश निर्दयता भी करता है परन्तु प्रत्यक्ष जीवदया उसे अधिक पसन्द है। जब सब प्राणी अपने ही रूपान्तर हैं तब कौन किससे द्वेष करे। तीसरे इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप 'मायावाद' के सिद्धान्त का जन्म हुआ। अपढ़ ग्रामीण तक यह मानता है कि यह जगत् माया है, मिथ्या है; माया का बन्धन तोड़कर ईश्वर की प्राप्ति ही उसका उद्देश्य है। इसी कारण हिन्दुओं के व्यावहारिक जीवन में आज भी समधिक रूप में संयम, त्याग एवं तप विद्यमान है।

इसी आध्यात्मिकता के कारण हमारी संस्कृति में प्राणिमात्र के प्रति समानता की भावना व्यक्त हुई है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' यहां का आदर्श है। कीरी और कुञ्जर इसमें एक ही आत्मा का विस्तार देखा जाता है। मानव का तो कहना ही क्या? इसमें घृणा के लिए स्थान नहीं है; 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' का सिद्धान्त ही मान्य है। इसीलिये भारतीय संस्कृति का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को अपना आदर्श मानती है।

आध्यात्मवादी होने के परिणामस्वरूप हिन्दू आशावादी होते हैं कितनी ही विपत्तियां आयें, कैसी भी स्थिति हो, वह कभी निराश होकर साहस नहीं छोड़ बैठते। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि अन्त मंगलकारी ही होगा क्योंकि ईश्वर का विधान मंगलमय है। प्रहलाद का जीवन इसका उदाहरण है।

३. कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धान्त---कर्म व पुनर्जन्म के सिद्धांत में अटल विश्वास भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता है। भारत के सभी मत-मतान्तर, चाहे वे ईश्वरवादी हों या अनीश्वरवादी हों—कर्म एवं आवागमन के सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा फल प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में अपने भाग्य का (भविष्य का) निर्माता वह स्वयं है। परिणामस्वरूप मनुष्य जीवन की विषमताओं से असन्तुष्ट नहीं होता। वह उन्हें अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल मानता है और भविष्य के लिए शुभ कर्म करने की चेष्टा करता है। श्री गुलाबराय के शब्दों में 'हमारा कर्मवाद हमारे पुरुषार्थ में बाधक नहीं होता, किन्तू एक संतोष की भावना अवश्य उत्पन्न करता है।'

कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है और तदनुसार जन्मान्तर की प्राप्ति होती है। मुक्ति-लाभ होने तक जन्म-मरण का यह चक्र चलता ही रहता है। शुभ कर्मों के फलस्वरूप शुभ योनि प्राप्त होती है और पाप कर्म करने पर अशुभ योनि में जाना पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है 'रमणीयचरणाः रमणीयां योनिमापद्येरन् ......कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन्।

४. परलोकवाद—हिन्दुओं का विश्वास है कि इस संसार में किये गये कर्मों का फल कर्ता को परलोक में मिलता है। अतः अनुचित साधनों द्वारा इस संसार में की गई उन्नति वास्तविक उन्नति नहीं है। दूसरे शब्दों में साध्य ही सब कुछ नहीं है। साधन का भी उतना ही महत्व है जितना कि साध्य का। इसीलिए धर्म की परिभाषा इस प्रकार की गई है—'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात जिससे इस लोक व परलोक दोनों में उन्नति हो वही धर्म है।

५. अवतारवाद—भारतीय संस्कृति की पांचवीं विशेषता है उसका अवतारवाद। प्रत्येक हिन्दू का यह विश्वास है कि भगवान उसकी रक्षा करने वाले हैं। वे समय-समय पर इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर दुष्टों का दलन एवं साधुओं का परित्राण करते हैं। रामायण, गीता आदि सभी ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। गीता में भगवान कृष्ण स्वयं कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

६. वर्णाश्रम व्यवस्था—वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करना भारतीय संस्कृति की छठी विशेषता है। हिन्दू संस्कृति ने उचित कार्य विभाजन द्वारा समाज की व्यवस्था को एक सुव्यवस्थित रूप दिया है। वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य मानवमात्र की ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति के लिए सबको समान अवसर प्रदान करना है।

जीवन संग्राम में अनुचित प्रतिस्पर्धा का अभाव हो और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक सब कार्य भी सुचारू रूप से सम्पादित होते रहें, इसीलिये वर्णप्रथा का

विधान किया गया है । इसका अर्थ है कि सांसारिक सम्पत्ति के लिये अपने वर्ण की आजीविका अपनाकर उससे संन्तुष्ट रहना और अर्जित वस्तु का समाज में वितरण करना । यह तो सर्वविदित ही है कि ये चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं । यद्यपि आजीविका के साधनों के अनुसार ये वर्ण एक दूसरे से भिन्न हैं, तथापि वे सभी समाज के महत्वपूर्ण अग हैं । उनमें कोई छोटा बड़ा नहीं । जहां तक आध्यात्मिक जीवन का सम्बन्ध है उसमें इस प्रकार का कोई भेद नहीं है । एक व्याध और जुलाहा भी तत्ववेत्ता बन सकता है ।

हिन्दू की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य भोग नहीं मोक्ष है, संग्रह नहीं त्याग है । उसका जीवन धर्म-प्रधान है । अतः उसका आरम्भ धार्मिक शिक्षा और पवित्र रहन-सहन—ब्रह्मचर्याश्रम से होता है । गृहस्थाश्रम में भी वह त्यागमय भोग का जीवन व्ययतीत करता और अन्त में वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों में पूर्णतः उच्चत्तर धर्म की ओर लगता है ।

७. **पुरुषार्थ**—भारतीय संस्कृति में मानव जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । मानव-जीवन की यही चार आवश्यकतायें हैं जिनका जीवन में सामञ्जस्य होना अत्यन्त आवश्यक है । मानव-जीवन का लक्ष्य है मोक्ष या आनन्द की प्राप्ति । इसकी प्राप्ति हेतु अर्थ व काम की पूर्ति होनी चाहिये और अर्थ व काम की प्राप्ति के लिए धर्म का आश्रय लेना आवश्यक है, धर्म के विपरीत काम व अर्थ का सेवन वर्जित है । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू संस्कृति में मानव के आदर्शों एवं उसके व्यवहारिक जीवन का समन्वय बड़ी ही सुन्दरता एवं पूर्णता से किया गया है । वस्तुतः हिन्दू-संस्कृति के अनुसार आदर्श जीवन व व्यवहारिक जीवन कोई पृथक्-पृथक् वस्तुयें नहीं हैं । जो आदर्श जीवन है वही व्यवहारिक जीवन है, और जो व्यावहारिक जीवन है वही आदर्श जीवन ।

८. **संस्कार**—भारतीय संस्कृति की आठवीं विशेषता है, भारतीय जीवन का पग-पग पर संस्कारों से पावन बनना । गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक भारतीयों ने गर्भाधान, पुंसवन इत्यादि षोड़ष संस्कार की कल्पना की है । व्यक्ति के भावी जीवन को पावन एवं सुमधुर बनाने की योजना इन संस्कारों द्वारा की जाती है ।

संक्षेप में भारतीय संस्कृति के यही प्रमुख मूल-तत्व हैं जो इसे अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा विशिष्टता प्रदान करते हैं ।

प्रश्न ३. आधुनिक जीवन का विचार रखते हुए प्राचीन भारतीय संस्कृति का महत्व स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर—आधुनिक जीवन में प्राचीन भारतीय संस्कृति की महत्ता पर विचार करने से पूर्व भारतीय संस्कृति किसे कहते हैं यह जानना आवश्यक है । एक ओर हिमालय की पर्वतमालाओं एवं तीन ओर से समुद्र से घिरी हुई इस भारत भूमि पर निवास

करने वाले समाज ने सहस्रों वर्षों में आचार-विचार की जो विशिष्ट प्रणाली तथा जीवन की ओर देखने की जो दृष्टि विकसित की है वही भारतीय संस्कृति है। काल की दृष्टि से विचार करने पर इसे प्राचीन एवं आधुनिक कहा जाता है।

भारत की प्राचीन संस्कृति में मनुष्य की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों का विकास ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना गया था। संस्कृति का प्रधानतम उद्देश्य भी वास्तव में मनुष्य की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास ही है। इस दृष्टि से विश्व की अन्य प्राचीनतम संस्कृतियों का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि उनमें इन सभी शक्तियों के विकास पर बल नहीं दिया जाता था। प्राचीन स्पार्टा में यदि शारीरिक विकास को ही सब कुछ माना जाता था तो एथेन्स में मानसिक विकास को ही प्रधानता दी जाती थी। इसी प्रकार प्राचीन मिश्र, रोम, बाबुल आदि प्राचीन संस्कृतियों में भी यही अधूरापन परिलक्षित होता है। यूरोप की आधुनिक संस्कृति भी पूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें मनुष्य के आत्मिक विकास को पूर्णतः भुला दिया गया है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर आज बीसवीं शताब्दी में हमारी क्या अवस्था है, हम किस ओर जा रहे हैं इसका विचार कर लेना भी ठीक होगा। आज के इस वैज्ञानिक युग में मानव जीवन शाश्वत सत्यों को छोड़कर कृत्रिमता की ओर अधिक भाग रहा है। धन ही आज के युग में प्रधानतम हो गया है। आज स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य आदि का दौरा-दौरा है। आज धन ही विद्या, कुल एवं ज्ञान का मानदंड समझा जाता है। जिसके पास धन है वही सुसंस्कृत माना जाता है। आज यदि विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों को कुछ समझने का प्रयत्न किया भी है तो भी उस ज्ञान का उपयोग मनुष्य का नाश करने के लिये ही बहुत अधिक किया जा रहा है। यह सब होते हुये भी आज का मानव अपने आप को आज तक का सबसे अधिक सुसंस्कृत मानव तथा अपनी संस्कृति को आज तक की सबसे अधिक आदर्श संस्कृति कहने का उपहासास्पद दम्भ कर रहा है।

आज की अधिकांश बुराइयों के मूल में १८वीं शती के उत्तरार्ध में हुई औद्योगिक क्रांति ही है। आज मनुष्य-शक्ति के स्थान पर यन्त्र-शक्ति प्रमुख हो गई है। यन्त्रों के कारण आज समाज में ऐसी विषमता फैल गई है कि जिसे दूर करना असम्भव सा प्रतीत होता है। आज एक ओर तो निर्धनता अपना नग्न अट्टहास कर रही है तथा दूसरी ओर धन की बहुलता से विलासिता अपना स्वार्थपूर्ण साम्राज्य स्थापित कर रही है। इन्हीं सब कारणों से आज पूंजीपतियों एवं मजदूरों के बीच झगड़ों की बाढ़ सी आ गई है तथा शक्तिशाली राष्ट्रों ने अशक्त एवं असभ्य देशों को व्यापार, वाणिज्य एवं सत्तादि का क्षेत्र बना लिया है। आज विश्व के सभी राष्ट्र एक दूसरे का गला घोंट कर सारे विश्व पर अपना एकाधिपत्य जमाने के दुःस्वप्न देख रहे हैं।

यदि आज के इस युग में भारतीय संस्कृति की सम्भावनाओं पर विचार किया जाय तो यही पता चलेगा कि ऐसे समय में मानव जाति की रक्षा सनातन सिद्धान्तों पर आधारित भारतीय संस्कृति ही कर सकती है। महात्मा गांधी अभी कल हुये हैं किन्तु उनके अहिंसा, सत्य व तप के सिद्धान्त भारतीय संस्कृति में सदैव से ही चले आ रहे हैं। आज वह समय भी दूर नहीं है जबकि हिंसा से परितप्त होकर विश्व अहिंसा, सत्य एवं तप के अवतार, भारतीय संस्कृति के प्रतीक महात्मा गांधी के जीवन से प्रेरणा एवं विनोबा भावे के चरणों में शरण लेकर शाश्वत शांति की अनुभूति करेगा।

इस स्थान पर यह विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा कि आखिर आज विश्व की संस्कृतियों में ऐसी किस बात की कमी है जिसके कारण वे मानव को चरम सुख और शान्ति प्रदान करने में असमर्थ हैं। वास्तव में आज विश्व भर में मानव के शारीरिक और मानसिक विकास पर तो चोटी का बल दिया जा रहा है किन्तु दूसरी ओर आत्मिक विकास की पूर्णरूपेण उपेक्षा की जा रही है। बिना आत्मिक विकास हुये केवल शारीरिक एवं मानसिक विकास से कार्य नहीं चल सकता। भारतीय संस्कृति मनुष्य को ईश्वर द्वारा दी गई शक्तियों के विकास की कसौटी पर चढ़ाने में पूर्णतया सच्ची उतरती रहती है और यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो प्राचीन भारतीय संस्कृति अपने मूल रूप में देश और काल से भी व्यवहृत नहीं होती है। आज विश्व में सब ओर जो आत्मिक विकास की अत्यधिक आवश्यकता है वह भी भारतीय संस्कृति के मनोयोगपूर्वक अनुशीलन तथा अनुकरण से ही पूर्ण हो सकती है। आज भी इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन देशों ने आत्मतत्व के कितने ही सिद्धांत भारत से सीखे थे। आधुनिक युग में भी विश्व के अपने आपको सभ्यतम संस्कृति के उपासक बतलाने वाले विदेशी पुरुषों की भारतीय गुरुओं के श्रीचरण में बैठकर भारतीय विद्याओं को समझने की चेष्टा करना उपर्युक्त तथ्य की ही अच्छी पुष्टि करता है।

हमारे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व नैतिक पतन का कारण अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ हो जाना ही है। हमारा विकास और हमारी उन्नति तभी सम्भव है जब हम अपनी संस्कृति का समुचित ज्ञान प्राप्त कर वर्तमान एवं भविष्य को अतीत से सम्बद्ध रखें। अतीत से सम्बन्ध न रहने पर हमारी दशा कुछ इस प्रकार की हो जाती है कि 'We grow but we do not mature. We move forward but in a directionless line.' अर्थात् हम बढ़ते हैं किन्तु परिपक्वता नहीं आती। हम आगे जाते हैं किन्तु दिशा का ज्ञान नहीं है। भारतीय संस्कृति के महत्व के सम्बन्ध में जर्मन विद्वान मैक्समूलर द्वारा प्रकट किये गये उद्गारों का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है 'And if I were asked myself from what literature, we have in Europe, we who are nurtured almost exclusively on the thought of the Greeks and Romans, and of the Semitic Race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted

in order to make our inner life more perfect, more universal, in fact, more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and eternal life, again I should point to India.' मैक्समूलर के इन शब्दों को पढ़ लेने के बाद अब आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न ४. विभिन्न युगों में भारतीय संस्कृति ने विदेशों में अपना जो प्रभाव डाला है उसका एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर—प्राचीन इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति का प्रचार विश्व के विभिन्न देशों में हुआ था। कितने ही सभ्य देशों ने प्राचीन काल में भारत से अनेक बातें सीखी थीं। भारतीय संस्कृति के विदेशों में इस प्रचार के मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम तो प्राचीन भारतीयों का विदेशों से व्यापार तथा द्वितीय प्राचीन भारतीयों की विदेशों में धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति। प्राचीन भारत विदेशों का धर्म-गुरू माना जाता था। भारतीय व्यापारी प्राचीन काल में अपने जल-पोतों पर चढ़कर सुदूर देशों से व्यापार करने जाते थे। इस प्रकार के व्यापार का उल्लेख ऋग्वेद तक में प्राप्त होता है।

भारत की प्राचीन संस्कृति सारे विश्व में व्यापक थी, इसकी पुष्टि अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। इनमें संक्षप में कुछ ये हैं—

१—भाषा साम्य।

२—धार्मिक व सांस्कृतिक साम्य।

३—प्राचीन लेखादि।

४—प्राचीन भारत का औपनिवेशिक विकास।

१. भाषा साम्य—विश्व के अनेक भाषा वैज्ञानिकों ने विश्व की प्राचीन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। प्रायः सभी भाषा-वैज्ञानिक इस एक बात पर एकमत हैं कि विश्व की सभी भाषाएं जिनमें वैदिक संस्कृति भी सम्मिलित की जाती है, किसी अन्य प्राचीन भाषा से निकली हैं और उस प्राचीन भाषा के बोलने वाले भी एक ही स्थान पर रहते थे जो आर्य कहलाते थे। कुछ विद्वानों ने इस प्राचीन भाषा के कल्पित स्वरूप की उद्भावना तक की है। कुछ विद्वानों का विचार है कि आर्य अत्यन्त प्राचीन काल में भारत में ही रहते थे और यहीं से जाकर वे विश्व के अन्य स्थानों पर बसे। विश्व की प्राचीन संस्कृत, जेन्द, बल्गेरियन, ग्रीक, लैटिन, गौथिक आदि भी भाषाओं में संस्कृत को ही प्राचीनतम माना जाता है। इस प्रकार भाषा-साम्य प्रचीन भारतीय संस्कृति के विदेशों पर पड़े प्रभाव को स्पष्ट कर देता है।

२. धार्मिक व सांस्कृतिक साम्य—प्राचीन ईरानियों के धार्मिक सिद्धान्तों, यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम आदि धर्मों के सिद्धान्तों तथा भारत के धार्मिक सिद्धान्तों में अत्यधिक साम्य पाया जाता है। ईरान के अवेस्ता नामक ग्रंथ तथा भारत के ऋग्वेद

में उल्लिखित देवताओं के नामों में साम्य तो इस बात को और भी पुष्ट कर देता है। ऋग्वेद का 'असुरमेघ' अवेस्ता में 'अहुरमजद' है, यहां का 'अर्यमन्' वहां 'ऐर्यमन्' हो गया है तथा यहां का 'मित्र' वहां 'मिथ' हो गया है। इसी प्रकार अन्य देशों की संस्कृति एवं धर्मों से भारत की संस्कृति एवं धर्मों का पर्याप्त साम्य दिखाई देता है।

३. **प्राचीन लेखादि**—कुछ वर्षों पूर्व एशिया के बोगेजकुई नामक स्थान पर हिट्टाइट भाषा में कुछ प्राचीन मिट्टानी लेख मिले थे। इन लेखों में अनेक भारतीय संख्याओं तथा भारतीय देवताओं का स्पष्ट नामोल्लेख किया गया है। इस लेख के अतिरिक्त अन्य अनेक लेख भी इसी प्रकार के उपलब्ध हुये हैं जिनसे भारतीयों के विदेशों पर प्रभाव का स्पष्ट पता चलता है।

४. **प्राचीन भारत का औपनिवेशिक विकास**—प्राचीन भारत के राजाओं ने विदेशों में अपने कितने ही उपनिवेश स्थापित किये थे। बाली, जावा, स्याम, हिन्द-चीन आदि के मन्दिरों तथा धार्मिक सिद्धान्तों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि यहां भारतीय लोगों के उपनिवेश प्राचीन काल में बहुत समय तक स्थापित रहे थे। भारतीय देवी-देवताओं के मन्दिरों की उपस्थिति रूस के प्रदेशों तक में पाई गई है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति ने विश्व को अनेक महत्वपूर्ण वस्तुयें दी थीं। इनमें से कुछ एक का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया गया है।

१. **यूनान व रोम के दर्शनशास्त्र पर भारत के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव**—यूनान व रोम के दार्शनिक सिद्धान्तों पर भारत के प्राचीन दर्शन-सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। विश्व व ईश्वर की एकता, अनेकता का मिथ्या आभास, मानस शक्ति व वैयक्तिक अस्तित्व का तादात्म्य आदि 'ऐलोटिक्स' के सिद्धान्त उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन में स्पष्ट पाये जाते हैं। पाइथोगोरस के पुनर्जन्म व पञ्च तत्वों के सिद्धान्त तथा रेखागणित के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय ग्रंथों में ही मूल रूप में पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स के शब्द उद्धृत करना बहुत ही उपयुक्त होगा। उन्होंने लिखा है—'दर्शनशास्त्रों के विषय में यह कहना पर्याप्त होगा कि न्याय व 'पेरिपेटेटिक', 'योग' व 'स्टोइक' आदि दर्शनों में समानता दिखाई देती है, जिससे गौतम की तुलना एरिस्टोटल से, कणाद की थैल्स से, जैमिनी की सुकरात से, व्यास की प्लेटो से, कपिल की पाइथोगोरस से तथा पातञ्जलि की जेनो से की जा सकती है।'[1] यूनान में एक इस प्रकार की जनश्रुति भी मिलती है कि थैल्स, एम्पीडोक्लीज, एनेनेगोरस, डोमोक्रायटस आदि विद्वानों ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के लिये भारत की यात्रा की थी।[2]

---

१. सर विलियम जोन्स वर्क्स, १/३६०, कोलब्रुक—मिस्लेनियस एसेज १/४३६; राधाकृष्णन—इन्डियन फिलासफी, जि० १, भूमिका।

२. मैक्डानल—संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४२२।

२. पाश्चात्य विज्ञान व साहित्य पर भारत का प्रभाव—पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य पर भी भारत का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। यूनानी गणित-विद्या एवं चिकित्सा शास्त्र पर भारतीय प्रभाव के चिन्ह आज भी दिखाई देते हैं। भारतीयों द्वारा खोजी गई संस्थायें तथा गणित की दशमलव प्रणाली आज भी विश्व की सभी गणितों एवं विज्ञानों का आधार है। यूनानियों के रेखागणित सम्बन्धी सिद्धांत स्पष्ट रूप से भारत के शुल्व-सूत्रों से लिए गये हैं। खोज से यहां तक पता चला है कि 'चिकित्सा शास्त्र के पिता' हिपोक्रेटीस के ग्रंथों पर भी भारतीय आयुर्वेदिक-ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव है।

३. यूरोप के कथा-साहित्य पर भारत का प्रभाव—मध्यकालीन यूरोप के कथा-साहित्य (Fairy Tales and Fables) पर भी भारतीय कथा-साहित्य का प्रभाव बिल्कुल ही स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रभाव के मूल अरब ही थे। फारिस के सेसेनियन राजा खुसरू अनुशीरवां (ई० सं० ५३१—ई० सं० ५७९) ने पञ्चतन्त्र का अनुवाद बरजोई नामक फारसी हकीम द्वारा पेहेलवी भाषा में कराया था। ई० सं० ५७० में इसका अनुवाद सिरिक भाषा में हुआ। इसका अनुवाद अनेक अन्य भाषाओं में हुआ जैसे यूनानी में ११८० ई० में, पारसी में ११३० ई० में, प्राचीन स्पेनिश भाषा में १२५१ ई० में तथा हिब्रू भाषा में १२५१ ई० में। इसका अनुवाद हिब्रू के लैटिन अनुवाद के रूप में १२७० ई० में 'डिरेक्टोरियम ह्यूमेनी व्हिलो' नाम से हुआ जिसका १४०१ ई० में जर्मन अनुवाद 'डास बुश डेर बेइसफेल डेर अल्टेन वायसेन' नाम से प्रकाशित हुआ। १५९२ ई० तक इसके सत्रह संस्करण निकल चुके थे। डिक्टोरियम का इटली भाषा में अनुवाद भी १५५२ ई० में वेनिस से प्रकाशित हुवा था। इस इटली भाषा के अनुवाद से ई० स० १५७० में सर टामस नार्थ के द्वारा अंग्रेजी में अनुवाद किया गया। इसी प्रकार के अन्य अनेकों कथा संग्रहों के अत्यन्त प्राचीन काल में विदेशी भाषाओं में अनुवाद का उल्लेख मिलता है।

४. शतरंज के खेल का यूरोप में प्रचार—शतरञ्ज जिसका प्राचीन भारतीय नाम चतुरंग था, भी भारत से ही पश्चिम में ले जाया गया। यूरोप में मध्यकालीन सरदार (Feudal Lords) शतरञ्ज का खेल-खेल कर एवं पंचतन्त्र के किस्से सुनकर ही अपना समय व्यतीत करते थे।

५. पश्चिमी देशों के समान ही पूर्वी देशों पर भी भारतीय संस्कृति का प्रचुर प्रभाव पड़ा था। इसमें बौद्ध धर्म का प्रमुख हाथ रहा था। तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, ब्रह्मदेश, मध्य-एशिया आदि आज भी प्राचीन काल के इस बौद्ध-अभियान की यशोगाथा गा रहे हैं। इसके अतिरिक्त पूर्व में जावा, वाली, बोर्नियो आदि द्वीपों में ब्राह्मण धर्म भी पहुंचा था।

इन सबके अतिरिक्त अन्य अनेक क्षेत्रों में भी भारत ने विदेशों पर अपना पर्याप्त प्रभाव डाला था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीयों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों तथा संस्कृति के मूल तत्वों को अपने तक ही सीमित न रखकर विश्व के विभिन्न भागों में फैलाया था।

प्रश्न ५. आप 'भारतीय संस्कृति', 'आर्य संस्कृति' एवं 'हिन्दू संस्कृति' से क्या समझते हैं? क्या इन सबका एक ही अर्थ लिया जा सकता है?

उत्तर—भारतीय संस्कृति के स्वरूप का निर्माण अनेक संस्कृतियों के मिश्रण से हुआ है। जहां एक ओर इसके निर्माण में भारत में ही उत्पन्न बौद्ध, जैन, द्रविड़ आदि संस्कृतियों का योग रहा है वहां दूसरी ओर मुस्लिम, ईसाई आदि सभ्यताओं ने भी इसे काफी प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त एक बात और है, वह यह है कि भारतीय संस्कृति का अंकुर काल के उस क्षेत्र में बोया गया था जहां आज के इतिहास की दृष्टि नहीं पहुंच सकती और न ही भारतीय संस्कृति का अंकुर खोजने के साधन आज उपलब्ध रह गये हैं। भारतीय संस्कृति, मिश्र, बेबीलोनिया, मेसोपोटामियां, तुमेर आदि की प्राचीन संस्कृति से भले ही कुछ विद्वानों द्वारा प्राचीनतम न मानी जाती हो किन्तु फिर भी इनके समकालीन तो मानी ही जाती है।[1]

भारत में सदैव से ही अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता दी जाती रही है। यही कारण है कि यहां पर समय-समय पर अनेक धर्मों एवं जातियों का जन्म एवं लालन-पालन हुआ है। आज इन सब धर्मों एवं जातियों ने भारतीय संस्कृति में अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। सहिष्णुता, उदारता एवं कर्म-व्यवस्था भारतीय संस्कृति की ही निजी विशेषतायें हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की समन्वय की भावना पाई जाती है। इसमें साहित्य, कला, धर्म, सामाजिक संगठन आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में समन्वय की भावना का अनूठा प्रदर्शन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ बहुत अधिक व्यापक है।

'आर्य संस्कृति' भारतीय संस्कृति का ही एक विशिष्ट अंग है। यह बात तो सुविदित ही है कि आर्य लोग मूलतः भारत के निवासी नहीं थे तथा जिस समय आर्य भारत में आये उस समय यहां द्रविड़ आदि कुछ अन्य जातियां रहती थीं जिन्हें सम्भवतः आर्यों ने लड़ने-भिड़ने के पश्चात् पराजित कर दक्षिण में खदेड़ दिया था। इसके अतिरिक्त मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि की खुदाई में जो अवशेष मिले हैं वे भी आर्य संस्कृति के प्रमाणिक विवरणों से मेल नहीं खाते और अत्यन्त प्राचीन काल में भी किसी आर्येतर संस्कृति के भारत में अस्तित्व की सूचना देते हैं। इस प्रकार यह

---

१. मैकडालन—संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ ४२१।

पता चलता है कि आर्य संस्कृति भारतीय संस्कृति की समानार्थक नहीं है अपितु एक अंग मात्र है।

वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था आर्य संस्कृति की महत्वपूर्ण देन है। वेदों का तो सारा ज्ञान ही इस इस संस्कृति ने भारत को प्रदान किया है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी इस संस्कृति का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है। सरलता, सादगी एवं स्वाभाविकता इस संस्कृति के जन्मजात गुण रहे हैं। आर्य सस्कृति में प्रकृति के पीछे अदृश्य रूप से कार्य करने वाली शक्ति के स्वरूपावलोकन का सराहनीय प्रयत्न किया गया है।

'हिन्दू संस्कृति' वास्तव में 'आर्य-संस्कृति' का ही एक परिष्कृत एवं कालान्तर में परिवर्तित स्वरूप है। हिन्दू शब्द का उद्भव भारतवर्ष में नहीं हुआ है। प्रयोग अथवा रूप की दृष्टि से 'हिन्दू' शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ 'सिन्धु' देश के रहने वाले होता है। प्राचीन काल में भारत के उत्तर में बहने वाली सिन्धु नदी के कारण इस देश को 'सिन्धु प्रदेश' भी कहा जाता था। भारतवर्ष के सिन्धु, सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिन्दू, हिन्द और हिन्दी माने जा सकते हैं। सिंधु एक नदी को, सिंध एक देश को और सिंधी उस देश के निवासी को कहते हैं किन्तु फारसी से आये हुये शब्दों में 'हिन्दू' से एक जाति, एक धर्म अथवा उस जाति या धर्म के मानने वाले व्यक्ति का बोध होता है; 'हिंद' से पूरे देश भारतवर्ष का अर्थ लिया जाता है और 'हिन्दी' एक भाषा विशेष का वाचक होता है। जब दसवीं शताब्दी के पश्चात विदेशियों के इस देश पर आक्रमण हुये तो उन्होंने इन्हीं शब्दों के प्रयोग किये और धीरे-धीरे भारतवासी भी अपने आपको 'हिन्दू' तथा अपने देश को 'हिन्द' कहने लगे।

आज बौद्ध एवं जैन आदि धर्मों का भी हिन्दू धर्म में ही समावेश हो गया है। यूनानियों, हूणों, शकों, ईरानियों आदि ने भी इसे प्रचुर मात्रा में प्रभावित किया है। रामचरितमानस, गीता और पुराण हिन्दू संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। हिन्दू-संस्कृति कर्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक तथा मुक्ति में विश्वास करती है। जाति-प्रथा एवं परिवार-व्यवस्था हिन्दू संस्कृति की अन्यतम विशेषतायें हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि 'भारतीय·संस्कृति', 'आर्य·संस्कृति' एवं 'हिन्दू·संस्कृति' अन्तरात्मा में तो एक सी ही हैं तथापि इनके बाह्य स्वरूप में प्रचुर अन्तर है; इसीलिए इनको पूर्णतया समानार्थक अथवा विषमार्थक कहना अधिक तर्कसंगत नहीं मालूम देता। अतः 'भारतीय संस्कृति', 'आर्य संस्कृति' एवं 'हिन्दू संस्कृति' को उनके अपने ही स्थानों पर समझना उचित जान पड़ता है।

प्रश्न ६. हिन्दू धर्म, बौद्ध-धर्म एवं जैन धर्म के आपसी सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—छः शताब्दी ईसा पूर्व तक आते-आते हिन्दू धर्म के वैदिक कर्मकाण्डों

तथा दूसरे अनुष्ठानों ने इतना भयानक रूप धारण कर लिया था कि अधिकांश जनों का इनमें से विश्वास उठता जा रहा था। इस काल में आकर ब्राह्मणों एवं पुरोहितों की अर्थ-लोलुपता इतनी बढ़ गई थी कि अधिकांश वैदिक कर्मकाण्डों की सत्यता का लोप होता जा रहा था तथा कृत्रिमता का साम्राज्य यज्ञ आदि में भी घर करने लगा था। ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थपरता के कारण वेदमन्त्रों आदि के ऐसे त्रुटिपूर्ण अर्थ करने प्रारम्भ कर दिये थे कि जिससे सामान्य जनता की रुचि के प्रतिकूल अनेक कार्यों का समावेश यज्ञ आदि धार्मिक कर्मकाण्डों में हो गया। ऐसे समय में ही बौद्ध एवं जैन धर्म का उदय हुआ। यदि सच पूछा जाय तो हिन्दू, बौद्ध तथा जैन ये तीनों एक ही धर्म के सुधरे हुए अथवा परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप हैं। तीनों धर्मों ने आपस में एक दूसरे को काफी प्रभावित किया है। तीनों धर्मों ने आपस में एक दूसरे को काफी दिया भी है और एक दूसरे से काफी ग्रहण भी किया है।

महात्मा बुद्ध ने 'एष धम्मो सनातन:' इन शब्दों में अपने धर्म को सनातन बताते हुये एक तरह से प्राचीन आर्य धर्म का ही पुनरुद्धार किया है। बौद्ध धर्म में सन्यास की भावना हिन्दू धर्म के सन्यासश्रम से ली गई है। विज्ञानात्मा का भाव भी बौद्धों ने उपनिषदों से ही लिया है। जेकोबी का कहना है कि बौद्ध दर्शन सांख्यदर्शन से ही लिया गया है। सांख्य तथा योग दोनों ने ही बौद्ध दर्शन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। जैनियों ने भी हिन्दू धर्म से कम बातें ग्रहण नहीं कीं। जैन धर्म में तपस्या पर ही विशेष रूप से जोर दिया गया है। तपस्या की यह भावना प्राचीन आर्यों के जीवन से ही ग्रहण की गई। कुछ विद्वानों ने तो कहा है कि जैन मत के कर्म-सिद्धान्त एवं अहिंसा व्रत से ही हिन्दू एवं बौद्ध धर्म प्रभावित हुये हैं। इन तीनों धर्मों में निर्वाण, कैवल्य एवं मोक्ष के रूप में एक ही वस्तु को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। इतना अवश्य है कि तीनों धर्मों में इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अपने-२ विभिन्न पथों का निर्देश दिया गया है। सदाचार एवं अहिंसा को यद्यपि तीनों धर्मों में विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है तथापि जैन धर्म में अहिंसा पर सर्वाधिक बल दिया गया है। जैन धर्म में जहां तपस्या पर विशेष जोर दिया गया है वहां बौद्ध धर्म में तपस्या एवं योग को ही सर्वोपरि प्रधानता दी गई है तथा हिन्दू धर्म में तो दोनों के साथ-साथ कर्मकाण्ड का भी विशेष महत्व रहा है।

इधर हिन्दू धर्म पर भी बौद्ध एवं जैन धर्मों का कम प्रभाव नहीं पड़ा है। मध्यकाल में तो दर्शन एवं धर्म शास्त्र के जितने ग्रंथों की रचना हुई उन सब पर बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जिस प्रकार बौद्धों में बोधिसत्व को बुद्ध तथा जैनियों में तीर्थंकर को पूर्ण ज्ञानी माना गया उसी प्रकार सांख्य में कपिल को सर्वज्ञ माना गया। उसी हिन्दू धर्म के अवतारवाद ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्मों में भी अपना स्थान बना लिया। जिस समय बौद्ध एवं जैन धर्म का अभ्युदय हुआ था उस समय ये ईश्वर को मानने के कड़े विरोधी थे तथा मूर्तिपूजा के

तो उससे भी कड़े विरोधी थे किन्तु धीरे-धीरे जब बुद्ध निर्वाण और महावीर कैवल्य को प्राप्त हुये तब उनके अनुयायियों ने भी अपने धर्म संस्थापकों की पूजा आदि करने के लिए हिन्दुओं की देखा देखी मूर्तियों की पूजा प्रारम्भ कर दी। बौद्ध धर्म की जातकावलियों तथा जैन धर्म की अवतार-परम्परा का प्रचलन मूलतः हिन्दुओं के अवतारवाद को देखकर ही हुआ है।

आगे चलकर हिन्दू धर्म का विकास भी भागवत एवं शैव इन दो शाखाओं के अन्तर्गत हुआ इनमें याज्ञिक कर्मकाण्ड का पहले जैसा महत्व नहीं रह गया। भागवत सम्प्रदाय ने तो यज्ञों के अतिरिक्त दैनिक जीवन में भी हिंसा का कड़ा विरोध करना आरम्भ कर दिया। जिस समय महात्मा बुद्ध ने जाति-प्रथा के विरोध में आवाज उठाई तथा मानवमात्र की समानता का उद्देश्य दिया तथा कर्म के अनुसार ही ऊंच-नीच एवं छोटे बड़े की बात की घोषणा की तो हिन्दू धर्म पर भी उसका काफी प्रभाव पड़ा। जैन-धर्म एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही हिन्दू धर्म ने भी याज्ञिकी हिंसा तक को निषिद्ध घोषित कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू, बौद्ध एवं जैन इन तीनों ने एक दूसरे को काफी प्रभावित किया है। आज इन तीनों में एक ऐसा गहन सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि इनको पृथक करना असम्भव सा है।

२

- प्राचीन भारत का पारिवारिक जीवन
- हिन्दू संस्कार
- विवाहों के विविध प्रकार
- अनुलोम व प्रतिलोम विवाह
- प्राचीन भारत में विवाह-विच्छेद
- आश्रम
- चतुर्वर्ग
- आर्यों का भोजन, वस्त्र, परिधान, आभूषण, गृह-निर्माण आदि
- पञ्च महायज्ञ

प्रश्न ७. प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन का वर्णन कीजिये ?

उत्तर—सामाजिक जीवन का प्रारम्भ पारिवारिक जीवन से ही हुआ है। सृष्टि के आदि में मानव में उत्पन्न युग्म भावना ने ही धीरे-धीरे विकसित होकर पारिवारिक जीवन का रूप ले लिया था। प्राचीन भारत में सृष्टि के प्राकृतिक नियमों को भली प्रकार समझ कर ही परिवार का विकास किया गया था। परिवार समाज का एक घटक माना जाता था और घर के अन्तर्गत गृहपति का स्थान प्रमुख था।

प्राचीन भारत में प्रत्येक शिशु के जन्म लेते ही उस पर तीन ऋणों का उत्तरदायित्व लाद दिया जाता था। ये तीन ऋण थे—पितृऋण, ऋषिऋण व देव-ऋण। सन्तानोत्पत्ति द्वारा ही कोई मनुष्य पिता के ऋण से मुक्त हो सकता था। पितृऋण के अन्तर्गत केवल सन्तान उत्पन्न करना ही नहीं आता था वरन उन्हें शिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाकर समाज के महत्वपूर्ण अंग के रूप में उनका निर्माण करना भी आता था। प्रत्येक मानव को गुरुओं से तथा समाज के अन्य सदस्यों से विभिन्न शिक्षाएं लेकर उन शिक्षाओं को, बदले में समाज के अन्य सदस्यों को देकर ऋषिऋण चुकाना पड़ता था। देवऋण का सम्बन्ध सामाजिक एवं धार्मिक जीवन से था। इसके अन्तर्गत देवताओं की अर्चना तथा समाज-सेवा आदि आते थे।

पिता—पिता परिवार का मुखिया माना जाता था और गृहपति कहलाता था। गृहपति के रूप में वह राजा के द्वारा भी परिवार का सर्वेसर्वा ही माना जाता था। परिवार के सब सदस्य उसके नियन्त्रण में रहते थे। पुत्र-पालन के विषय में मनु ने लिखा है—

लालयेत पन्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत।
प्राप्तते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत ।।[1]

अर्थात् पांच वर्षों तक पुत्र का लालन-पालन करे, दस वर्षों तक ताड़न करे तथा सोलहवां साल लगने पर पुत्र से मित्र के समान व्यवहार करे। इसी प्रकार पुत्र को, माता को देवता समान मानो, पिता को देवता समान मानो, आचार्य को देवता के समान मानो आदि आदेश दियें गये थे।

माता—परिवार में माता का स्थान भी पिता के स्थान से कम महत्वपूर्ण नहीं था। ऋषियों का विचार था कि—

"कुपुत्रो नायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"[2]

---

१. मनुस्मृति।
२. कीथ द्वारा 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' में पृष्ठ १७ पर शंकर के 'दैव्य-पराधक्षमापनस्तोत्रम्' से उद्धृत।

अर्थात्—कोई भी पुत्र बुरा उत्पन्न हो सकता है किन्तु कोई माता बुरी नहीं हो सकती। माता को बालक की सबसे पहली तथा सबसे बड़ी शिक्षिका माना जाता था। घर की आन्तरिक व्यवस्था माता के ही हाथ में होती थी, इसीलिये उसे गृहिणी कहा जाता था। वह प्रत्येक कार्य में गृहपति का हाथ बंटाती थी। सभी धार्मिक कृत्यों में उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी। पति के वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने पर वह भी पति के साथ ही जाकर किसी ऋषि के आश्रम में रहती थी।

अन्य सदस्य—परिवार के अन्य सदस्यों को भी पारिवारिक संगठन में बंधकर रहना पड़ता था और हमेशा माता-पिता की आज्ञा मानना ही उसका सर्वोच्च कर्त्तव्य माना जाता था। इस प्रकार परिवार के सब सदस्य यथानियम मर्यादा में रह कर अपने-अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते थे।

दैनिक कर्त्तव्य—प्रत्येक गृहस्थ को प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में अर्थात् लगभग साढ़े चार बजे उठना पड़ता था तथा शौचादि के बाद अपना सारे दिन का कार्यक्रम बनाना पड़ता था। ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ (अतिथियज्ञ) आदि पांच महायज्ञों का करना प्रत्येक गृहस्थ के लिये आवश्यक समझा जाता था और इसका पारिवारिक जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान था। ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य था वेदों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा ज्ञान वृद्धि में सदैव प्रयत्नशील रहना जिससे इस संसार की समस्यायें आसानी से सुलझाई जा सकें। पितृयज्ञ का तात्पर्य साधारणतया मृत पितरों से सम्बन्धित तर्पण कर्म आदि से लिया जाता था। देवयज्ञ के अन्तर्गत हवन इत्यादि को लिया जाता था। हवन का सम्बन्ध वायु-शुद्धि से माना जाता था। चौथे भूतयज्ञ का अर्थ था कि जो कुछ बना हो उसमें से थोड़ा सा लेकर पाकशाला की अग्नि में डालना चाहिये व डालते समय कुछ विशेष मंत्रों का उच्चारण करना चाहिये। इसके पश्चात् लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी लेकर छः भाग भूमि में रखें व कुत्ते, पतित, पापी, श्वपच, रोगी, वायस, कृमि आदि को दे देवे। इस यज्ञ को बलिवैश्वदेव भी कहा जाता था। पांचवां यज्ञ था नृयज्ञ अर्थात् अतिथि यज्ञ। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल कपट-रहित नित्य भ्रमण करने वाला अतिथि घर पर आवे, तब गृहस्थ को अत्यन्त प्रेम से उठ कर उसे आसन पर बैठाना चाहिये तथा इसके पश्चात् उसकी जल एवं अन्न आदि से सेवा करके अतिथि को पूर्णतया संतुष्ट करना चाहिये। माना जाता था कि इन पांचों यज्ञों के यथाविधि सम्पादन से जीवन को सच्चा आनन्द प्राप्त होता था।

पारिवारिक जीवन के विकास में गर्भाधान, पुंसवन आदि सोलह संस्कारों का भी अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान था। ये संस्कार थे—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, सन्यास तथा अन्त्येष्टि संस्कार। हिन्दू

समाज में आज भी इनमें से कुछ संस्कार बचे हैं जैसे गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, नामकरण, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, विवाह आदि।

यम-नियमों का पालन भी परिवार में एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था। ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, नम्रता, अहिंसा, चोरी का त्याग, मधुर स्वभाव व इन्द्रिय-दमन ये दस यम कहे गये थे। स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रिय-निग्रह, गुरु-सेवा, शौच, अक्रोध व अप्रमाद ये नियम कहे जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गृहस्थ को वर्णधर्म के अनुसार ही अपना-अपना काम—वेद-पठन-पाठन, क्षत्रि धर्म, कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि करना पड़ता था।

प्राचीन भारत में संयुक्त-परिवार-प्रथा ही प्रचलित थी। परिवार के सब व्यक्तियों का खान-पान, रहन-सहन आदि इकट्ठा ही होता था। संयुक्त-परिवार-प्रथा होते हुये भी प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने कर्त्तव्य निश्चित थे और उसे अपने सभी कर्त्तव्यों को आवश्यक रूप से पूर्ण करना पड़ता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में पारिवारिक जीवन उच्चतर आदर्शों की आधार-शिला पर खड़ा था। ये सभी आदर्श ऐसे थे जिनसे मानव-जाति का ही नहीं, अपितु समस्त प्राणिमात्र का कल्याण हो सकता था।

प्रश्न ८. **हिन्दू संस्कारों का विशद विवरण देते हुये उनके महत्त्व निर्देश कीजिये।**

उत्तर—(इस प्रश्न का उत्तर बड़ा हो गया है किन्तु इसे देख कर विद्यार्थी घबड़ायें नहीं, क्योंकि परीक्षा में प्रायः सब संस्कारों के केवल नाम तथा किन्हीं एक, दो या तीन का ही विशद वर्णन देने को कहा जाता है।)

'संस्कार' शब्द का प्रयोग संस्कृत में अनेक अर्थों में हुआ है किन्तु इसके पूर्व हिन्दू शब्द लगा देने से वह हिन्दुओं में जन्म के पूर्व से लेकर मृत्युपर्यन्त तक होने वाले कुछ विशेष धार्मिक विधि-विधानों का बोधक हो जाता है। साधारणतया यह समझा जाता है कि संस्कारों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से संस्कृत होने वाले व्यक्ति में कुछ विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

यद्यपि प्राचीन गृह्यसूत्रों आदि में संस्कारों की भिन्न-भिन्न संख्याओं का उल्लेख किया गया है तथापि आज सबसे अधिक लोकप्रिय संस्कार सोलह ही माने जाते हैं। मोटे तौर पर सभी संस्कारों को पांच भागों में बांटा जा सकता है—

क—प्रागजन्म संस्कार
ख—बाल्यावस्था संस्कार
ग—शैक्षणिक संस्कार
घ—विवाह संस्कार
ङ—अंत्येष्टि संस्कार

इन पांचों वर्गों के अंतर्गत सोलह संस्कारों को इस प्रकार स्थान दिया जाता है—

क—प्राग्जन्म संस्कार

१—गर्भाधान
२—पुंसवन
३—सीमन्तोन्नयन

ख—बाल्यावस्था संस्कार

४—जातकर्म
५—नामकरण
६—निष्क्रमण
७—अन्नप्राशन
८—चूड़ा-करण
९—कर्णवेध

ग—शैक्षणिक संस्कार

१०—विद्यारम्भ
११—उपनयन
१२—वेदारम्भ
१३—केशान्त अथवा गोदान
१४—समवर्तन अथवा स्नान

घ—विवाह संस्कार

१५—विवाह संस्कार

ङ—अन्त्येष्टि संस्कार

१६—अन्त्येष्टि संस्कार

१. **गर्भाधान संस्कार**—पूर्वमीमांसा में उद्धृत किया गया है 'गर्भः संधार्यते येन कर्मणा उद्गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्'[1] अर्थात् जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है उसे गर्भाधान कहते हैं। शौनक ने भी इसकी परिभाषा इसके विपरीत रूप में ही इस प्रकार दी है—

---

१. पूर्वमीमांसा, अध्याय १, पाद ४, अधि २, वीरमित्रोदय-संस्कार-प्रकाश में इस संस्कार के प्रसंग में उद्धृत।

**"निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः सधार्यते स्त्रिया
तदगर्भालम्भन नाम कर्म प्रोक्त मनीषिभिः ॥"[1]**

अर्थात—जिस कर्म के प्रयोग से अथवा पूर्ति से स्त्री (पति के द्वारा) धारण कराये हुये शुक्र को धारण करती है उसे विद्वान् गर्भालम्भ अथवा गर्भाधान नाम का कृत्य कहते हैं।

पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भ-धारण के उपयुक्त समझा जाता था। 'वीरमित्रोदय-संस्कार प्रकाश' में व्यास के वचनों को उद्धृत करते हुये कहा गया है कि चौथी रात्रि में धारण किया हुआ पुत्र अल्पायु और धनहीन होता है। पांचवीं रात्रि में गर्भ धारण की हुई स्त्री कन्या सन्तति को ही जन्म देती है, छठी रात्रि का बच्चा मध्यम श्रेणी का (उदासीन) होता है, सप्तम रात्रि की कन्या वन्ध्या होती है, आठवीं रात का लड़का सम्पत्ति का स्वामी होता है, नवीं रात्रि के गर्भ से शुभ स्त्री उत्पन्न होती है, दसवीं रात का पुत्र बुद्धिमान होता है, ग्या-रहवीं रात्रि की कन्या अधार्मिक होती है और बारहवीं रात्रि का पुत्र सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होता है, तेरहवीं रात्रि की कन्या व्यभिचारिणी होती है चौदहवीं रात्रि का पुत्र धार्मिक, कृतज्ञ, संयमी और दृढ़प्रतिज्ञ होता है, १५वीं रात्रि की कन्या बहुत पुत्रों की मां और पतिव्रता स्त्री होती है, सोलहवीं रात्रि का पुत्र विद्वान, श्रेष्ठ, सत्यवादी, जिते-न्द्रिय और समस्त प्राणियों के लिए शरण देने वाला होता है। इसी प्रकार रात्रिकाल में ही गर्भाधान का विधान किया गया था और दिन में निषेध किया गया था। वैसे तो इस संस्कार का कर्त्ता स्वभावतः पति ही था किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में पति के अतिरिक्त दूसरे कर्त्ता का भी उल्लेख किया गया है जैसे एक स्मृति में लिखा है—

**गर्भाधानादितस्कर्ता पिता श्रेष्ठतमः स्मृतः ।
अभावे स्वकुलीनः स्याह बान्धबो बाऽन्यगोत्रजः ॥[2]**

अर्थात् संस्कारों का सर्वोत्तम कर्त्ता पिता है किन्तु उसकी अनुपस्थिति में या तो उसी कुल का कोई व्यक्ति अथवा किसी अन्य कुल का मित्र इन संस्कारों को करे।

ऋग्वेद में भी एक स्थान पर कहा है, 'को वां शयुत्रा निधयेव देवरं मय न योषावृणुते सधस्थ आ।'[3] इस स्थान पर स्पष्टतः निर्देश है कि एक विधवा अपने देवर को पति के हेतु सन्तति उत्पन्न करने के लिये आमन्त्रित करती है।

यह संस्कार प्रथम गर्भाधान के समय किया जाता था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि एक बार पवित्र किया हुआ क्षेत्र भविष्य के प्रत्येक गर्भ को पवित्र बनाता है।

---

१. वही उद्धृत।
२. वही उद्धृत।
३. ऋग्वेद १०.४०.२।

बिना गर्भाधान संस्कार किये हुये स्त्री में उत्पन्न बच्चा अपवित्र माना जाता था, यह संस्कार स्त्री एवं पुरुष द्वारा कुछ स्तुतियों के रूप में सम्पन्न होता था।

२. **पुंसवन संस्कार**—यह निश्चय हो जाने पर कि किसी स्त्री ने गर्भ धारण कर लिया है, गर्भस्थ बच्चे को पुंसवन संस्कार द्वारा अभिषिक्ति किया जाता था। पुंसवन संस्कार का अनुष्ठान करने से यह समझा जाता था कि इस स्त्री के पुरुष-सन्तति ही उत्पन्न होगी और यदि स्त्री सन्तति भी होती थी तो भी यह सोचा जाता था कि यह आगे चलकर पुरुष-सन्तति को जन्म देगी। 'वीरमित्रोदय-संस्कार प्रकाश' में शौनक का यह कथन उद्धृत किया गया है, "पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत्पुंसवनमीरितम्" अर्थात् जिस कर्म के अनुष्ठान से पुरुष सन्तति का जन्म हो उसे पुंसवन कहते हैं।

इस संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के द्वितीय मास से लेकर अष्टम मास तक माना जाता था क्योंकि विभिन्न स्त्रियों में गर्भाधान के चिन्ह विभिन्न कालों में प्रकट होते हैं। पुंसवन संस्कार प्रत्येक गर्भ-धारण में किया जाय अथवा केवल प्रथम गर्भ-धारण के समय ही, इस विषय में प्रचुर मतभेद है। शौनक का कहना है कि यह संस्कार प्रत्येक गर्भ- धारण के पश्चात करना चाहिये किन्तु याज्ञवल्क्य आदि का कहना है कि प्रथम गर्भधारण के समय ही होना चाहिए। यह संस्कार प्रायः उसी समय किया जाता था जब चन्द्रमा किसी पुरुष-नक्षत्र में होता था। यह संस्कार न्यूनाधिक रूप में आयुर्वेदीय अनुभव पर आधारित प्रतीत होता है। इस संस्कार में गर्भिणी स्त्री की घ्राणेन्द्रिय के दाहिने रन्ध्र में बट वृक्ष का रस छोड़ा जाता था जिससे गर्भपात का निरोध तथा पुरुष सन्तति के जन्म का निश्चय किया जाता था। इस संस्कार में 'सुपर्णोऽसि' आदि मन्त्रों के द्वारा सुन्दर तथा स्वस्थ शिशु के जन्म की कामना व्यक्त की जाती थी।

३. **सीमन्तोन्नयन संस्कार**—

सीमन्त उन्नीयते यस्मिन कर्मणि तत्।
सीमन्तोन्नयनमिति कर्मणिनामधेयम्।।[1]

अर्थात् जिस कृत्य में गर्भिणी स्त्री के सीमान्त (अर्थात् केशों) को ऊपर उठाया (उन्नयन किया) जाता था उस कृत्य को सीमन्तोन्नयन कहते थे।

स्त्री के केशों को संवार कर प्रतीकात्मक रूप से गर्भिणी स्त्री के गर्भ को सभी प्रकार के आघातों के विरुद्ध अधिकतर सावधानी से रक्षा करने के तथ्य पर ही बल दिया जाता था। ग्रह्यसूत्रों के अनुसार इस संस्कार का काल गर्भ का चतुर्थ अथवा पञ्चम मास था। स्मृतियों के अनुसार यह काल छठे से आठवें मास तक हो सकता है। ज्योतिष ग्रन्थों के अनुसार यह काल शिशु के जन्म तक कभी भी हो सकता है।

---

१. **वीरमित्रोदय-संस्कार-प्रकाश** भा० १, पृ० १७२।

वास्तव में तो इस संस्कार की आवश्यकता गर्भ के चतुर्थ मास की समाप्ति के पश्चात् ही होती है क्योंकि गर्भ के पांचवें मास से ही भावी शिशु का मानसिक निर्माण प्रारम्भ होता है और उसी समय विशेष रूप से गर्भ के सम्बन्ध में अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। आश्वलायन, बौधायन, आपस्तम्ब तथा पारस्कर के अनुसार यह संस्कार प्रथम गर्भ धारण के समय ही होना चाहिये किन्तु कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि यह प्रत्येक गर्भ के अवसर पर सम्पन्न किया जाना चाहिये।

४. **जातकर्म संस्कार**—आदिम मानव ने जब शिशु की उत्पत्ति देखी तो उसने इसके मूल में किसी अतिमानवीय शक्ति को देखा तथा ऐसे अवसर पर अनेक संकटों एवं विपदाओं की शांति के लिए अनेक निषेधों, व्रतों तथा विधि-विधानों को जन्म दिया। प्रसव के लिए तैयारियां एक मास पूर्व से ही आरम्भ कर दी जाती थीं। प्रसव के समय अनेक अन्य अनुभवी स्त्रियां भी उसके साथ रहती थीं।

जातकर्म संस्कार नाभिबन्धन के पूर्व सम्पन्न होता था। इस संस्कार का प्रथम कर्म था मेधाजनन। इन कर्म में पिता अपनी चौथी उंगली और एक सोने की शलाका से शिशु को मधु और घृत अथवा केवल घृत चटाता था। इस कर्म को शिशु का बौद्धिक विकास होना माना जाता था। इसके पश्चात् आयुष्य नामक कर्म सम्पन्न होता था जिसमें पिता शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के निकट गुन-गुनाता हुआ कहता था 'अग्नि दीर्घजीवी है, वह वृक्षों में दीर्घजीवी है। मैं उस दीर्घायु से तुझे दीर्घायु करता हूं। सोम दीर्घजीवी है, वह वनस्पतियों द्वारा दीर्घजीवी है आदि आदि।'[1] इस प्रकार शिशु के समक्ष दीर्घजीवी के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके यह समझा जाता था कि उक्त उदाहरणों के कथन से शिशु भी दीर्घायुष्य प्राप्त कर लेगा। इसके पश्चात् पिता शिशु के दृढ़, वीरतापूर्ण तथा शुद्ध जीवन के लिये प्रार्थना करता था। वह शिशु से कहता था, 'तू पत्थर हो, तू परशु हो, तू अमृत स्वर्ण बन। तू यथार्थ में पुत्र के नाम से आत्मा है, तू सौ शरदृऋतु पर्यन्त जीवित रह।'[2] इसके पश्चात् कुल की आशाओं के केन्द्रीयभूत पुत्र को जन्म देने के लिये माता की स्तुति की जाती थी। तब नाभि की घुण्डी पृथक की जाती थी तथा शिशु को स्नान एवं माता का स्तन्य-पान कराया जाता था। संस्कार समाप्त होने पर ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी जाती थी तथा दान एवं भिक्षा का वितरण किया जाता था। इस प्रकार जातकर्म संस्कार समाप्त होता था।

५. **नामकरण संस्कार**—सामाजिक चेतना के विकास के साथ ही मनुष्य का नामकरण भी किया जाने लगा था। बहुधा बालक का नामकरण उस देवता के नाम पर किया जाता था जो उसका रक्षक माना जाता था। धार्मिक कृत्य के गृह्य-

---

१. पा० गृ० सू० १.१.१६।

२. अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यममृतं भव। वही १.१६ १४।

सूत्रों आदि अनेक ग्रंथों में शिशुओं के नामों के सम्बन्ध में अनेक नियम उल्लिखित हैं। बालक और बालिका के नाम का निर्णय करने के लिये पृथक् पृथक् विधियां थीं। ब्राह्मण का नाम मङ्गलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक तथा शूद्र का नाम जुगुप्सित अथवा कुत्सासूचक रखने की प्रथा थी। उस नक्षत्र के अनुसार जिसमें शिशु का जन्म हुआ हो, उस मास के देवता, कुल-देवता तथा लोक प्रचलित सम्बोधन के अनुसार ही चार प्रकार के नाम प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मक तथा भर्त्सनासूचक नामों के रखने का भी पर्याप्त प्रचलन था। नामकरण संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें अथवा बारहवें दिन सम्पन्न होता था।

इस संस्कार की विधि इस प्रकार थी। पिता शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ उसे इस प्रकार सम्बोधित करता था—'हे शिशु! तू कुल-देवता का भक्त है, तेरा नाम..............है, तू इस मास में उत्पन्न हुआ है, अतः तेरा नाम..............है, तू इस नक्षत्र में जन्मा है अतः तेरा नाम.............. है तथा तेरा लौकिक नाम..............है।' इसके पश्चात् वहां पर एकत्रित ब्राह्मण कहते थे, 'यह नाम प्रतिष्ठित हो।' इसके पश्चात् पिता औपचारिक रूप से शिशु से ब्राह्मणों को अभिवादन कराता था, जो उसे 'सुन्दर शिशु' 'दीर्घायु हो' आदि आशीष देते थे। इसी समय वे 'तू वेद है', आदि ऋचा का भी उच्चारण करते थे। अन्त में उसका अभिवादनीय नाम रखा जाता था। ब्राह्मण-भोजन तथा आदरपूर्वक देवताओं तथा पितरों को अपने-अपने स्थानों को प्रेषित करने पर संस्कार समाप्त होता था।

६. **निष्क्रमण संस्कार**—यह संस्कार उस समय किया जाता था जब बालक को घर से बाहर निकाला जाता था। घर से बाहर निकालने से पूर्व घर से बाहर के अनेक प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संकटों से शिशु की रक्षा करने के लिये देवताओं का अर्चन तथा उनकी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था और इसी रूप में यह संस्कार सम्पन्न होता था। गृह्यसूत्र में निर्देश किया गया है कि इस संस्कार में पिता बालक को बाहर ले जाता था और 'तच्चक्षुर्देवहितम्' आदि मंत्र के साथ उसे सूर्य का दर्शन कराता था।[1]

यह संस्कार करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चौथे महीने तक भिन्न-भिन्न था। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार माता-पिता के द्वारा सम्पन्न किया जाता था। कुछ अन्य ग्रंथों के अनुसार इस अवसर पर शिशु के मामा को बुलाना भी वांछनीय समझा जाता था। इस संस्कार का महत्व शिशु की दैहिक आवश्यकता तथा उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अंकन में निहित था। संस्कार का व्यावहारिक अर्थ तो वास्तव में यही प्रतीत होता है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को उन्मुक्त वायु में लाना चाहिए और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित

---

१. पा० गृ० सू० १.१७.५.६।

रहना चाहिए। यह संस्कार शिशु के विकासशील मन पर यह भी अंकित करता था कि यह विश्व ईश्वर की अपरिमित सृष्टि है और उसका आदर विधिपूर्वक करना चाहिये।

७. **अन्नप्राशन संस्कार**—यह संस्कार शिशु को सर्वप्रथम ठोस भोजन अन्न खिलाने के अवसर पर सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार का उद्देश्य यह था कि शिशु से माता का स्तन छुड़ा दिया जाय और माता के दूध के स्थान पर उसके लिये किसी अन्य खाद्य पदार्थ की व्यवस्था की जाय। लोगों का विचार था कि भोजन के रूप में अवश्य कोई न कोई रहस्यमय शक्ति ही मनुष्य को जीवन प्रदान करती है और इसीलिए इस संस्कार के अवसर पर देवताओं की सहायता से शिशु में शक्ति के उस स्रोत को ही प्रविष्ट कराने का प्रयत्न किया जाता था।

गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे मास में किया जाता था। यह संस्कार कुछ पण्डितों के अनुसार जन्म के पश्चात् आठवें, नवें, दसवें अथवा बारहवें मास में किया जाता था। चार मास के पूर्व यह संस्कार सम्पन्न करना कठोरता से निषिद्ध था। भोजन किसी भी प्रकार का क्यों न हो यह सदैव ध्यान रखा जाता था कि भोजन लघु तथा शिशु के लिये स्वास्थ्यबर्धक हो। किसी ग्रंथ में शिशु को दही, मधु, घी का मिश्रण खिलाने का विधान किया गया है, कहीं शिशु को दूध और भात खिलाने का उल्लेख है और कहीं इन भोजनों के साथ कुछ पक्षियों के मांस का भी विधान किया गया है। इसका कारण वही था कि प्राचीन काल में पशु पक्षियों का मांस खाना निषिद्ध नहीं समझा जाता था। इस संस्कार की महत्ता यह थी कि शिशु उचित समय पर माता के स्तन से पृथक् कर दिया जाता था और उसे माता-पिता की स्वेच्छाचारिता पर नहीं छोड़ दिया जाता था जिससे प्रायः उसकी भोजन-क्षमता पर बिना ध्यान दिये अतिभोजन द्वारा उसके शारीरिक विकास में बाधा पहुँचाने की आशंका रहती थी।

८. **चूड़ाकरण**—जैसे जैसे मानव-सभ्यता में प्रगति होती गई वैसे-वैसे मनुष्य में छोटे-छोटे केश रखने की प्रवृत्ति आती गई। बाल काटने के समय लोहे के किसी तीक्ष्ण (औजार) को देखकर प्रारम्भिक मानव के मन में भय की आशंका होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार के भय की आशंका तथा बाल कट जाने पर भावी संकटों से रक्षा करने के लिए ही सर्वप्रथम बाल कटाने के अवसर पर देवताओं का अर्चन किया जाता था और उसी रूप में संस्कार का प्रादुर्भाव हुआ। धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति ही संस्कार का प्रमुख प्रयोजन माना जाता था। लोगों का विचार था कि चूड़ाकर्म संस्कार न करने से आयु का ह्रास होता है अतः प्रत्येक दशा में यह संस्कार अवश्य सम्पन्न किया जाना चाहिये। चूड़ाकरण संस्कार के अवसर पर प्रयोजनीय अनेक मंत्रों की रचना केवल इसी प्रयोजन से हुई थी।

गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार बालक के जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व सम्पन्न होता था। कुछ परवर्ती लेखकों ने इस संस्कार का समय बढ़ा कर पांचवें तथा सातवें वर्ष तक कर दिया है। यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण में होने पर ही सम्पन्न होता था। यह संस्कार दिन के समय ही सम्पन्न किया जाता था। शिशु की माता के रजस्वला होने पर उसकी शुद्धि पर्यन्त यह संस्कार स्थगित कर दिया जाता था। प्रारम्भ से ही इस संस्कार को कहीं न कहीं देवालयों में सम्पन्न करने की प्रथा चली आ रही है। आज कुछ लोग गंगा इत्यादि पवित्र नदियों के तट पर भी इस संस्कार को सम्पन्न करने लग गये हैं। शिखा अर्थात् चोटी रखना अत्यन्त आवश्यक था। शिखा को काट देने पर प्रायश्चित का विधान भी किया गया। विभिन्न वंशों में एक से लेकर पांच-छः शिखायें तक रखने की प्रथा प्रचलित थी। आज इस प्रथा का प्रायः लोप हो रहा है और अधिकांश युवक अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में आकर अपनी शिखा कटाने लगे हैं। यह संस्कार विभिन्न वैदिक मंत्रों के साथ अत्यधिक पवित्र वातावरण में सम्पन्न होता था। इसमें पहले सिर को आर्द्र किया जाता था। फिर अक्षति तथा अनाहृति के लिये प्रार्थना के साथ केशों का छेदन किया जाता था। शिखा का सम्बन्ध दीर्घायुष्य से जोड़ा गया था। सुश्रुत का कहना है कि मस्तक के ऊपर की ओर शिरा तथा सन्धि का सन्निपात है। वहीं रोमा में अधिपति है। इस अंग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल मृत्यु हो सकती है।[1] इसलिये इस महत्वपूर्ण अंग की सुरक्षा करने के लिये ही इस स्थान पर शिखा रखने की व्यवस्था की गई थी।

९. **कर्णवेध संस्कार**—कर्णवेध संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख पारस्कार गृह्य-सूत्र के परिशिष्टस्थ कात्यायन सूत्रों में ही मिलता है। गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। संस्कारों की सूची में इसके आधुनिक काल में समावेश का कारण सम्भवतया यही प्रतीत होता है कि इसका प्रयोजन सूत्र में अलंकरणात्मक था तथा कोई भी धार्मिक भावना इससे संयुक्त न थी। आज इसको इसके अत्यन्त विस्तृत अर्थ में ही संस्कारों के पवित्र क्षेत्र में प्रवेश मिल सका है। वृहस्पति के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें, बारहवें अथवा सोलहवें दिन किया जाता था।[2] कुछ अन्य आचार्यों के द्वारा शिशु के जन्म के सातवें महीने, तीसरे वर्ष तथा पांचवें वर्ष में भी इस संस्कार के करने का विधान किया गया है।

संस्कार पिता के द्वारा सम्पन्न होता था। कानों का छेदन भिषक्, सुनार अथवा सौधिक (सुई बनाने या उससे काम करने वाले) के द्वारा किये जाने का

---

१. सुश्रुति—शरीरस्थान, अध्या० ३,८३।

२. वृहस्पति—वीरमित्रोदयसंस्कारप्रकाश, भा० १, पृष्ठ २५८ से उद्धृत।

विभिन्न आचार्यों द्वारा उल्लेख मिलता है। कान छेदने वाली सुई के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख मिलता है। वृहस्पति स्वर्णमयी अथवा सामर्थ्य के अनुसार चांदी अथवा लोहे की सुई का विधान करते हैं।[1] कुछ अन्य आचार्यों के द्वारा तांबे की सुई का भी विधान किया गया है किन्तु इन सब भेदों का आधार आर्थिक ही अधिक प्रतीत होता है। कर्णवेध के धार्मिक स्वरूप ग्रहण कर लेने के पश्चात् से इसका करना अनिवार्य माना जाने लगा था। यह संस्कार शुल्क पक्ष में ही किसी दिन पर सम्पन्न किया जाता था। सुश्रुत ने लिखा है कि 'रोग से रक्षा तथा भूषण या अलङ्कार के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिये।'[2] अण्डकोश-वृद्धि तथा अन्त्र-वृद्धि के निरोध के लिये भी सुश्रुत के द्वारा कर्णवेध का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार से इस संस्कार का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

१०. **विद्यारम्भ संस्कार**—शिशु के मस्तिष्क के शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाने पर उसको शिक्षा का आरम्भ विद्यारम्भ संस्कार के साथ किया जाता था और उसे अक्षर सिखाये जाते थे। विभिन्न धर्मशास्त्रों में इस संस्कार के विद्यारम्भ, अक्षरारम्भ, अक्षरस्वीकरण, अक्षरलेखन आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं। विश्वामित्र के अनुसार यह संस्कार बालक के जन्म के पांचवें वर्ष में किया जाता था। कुछ अन्य आचार्यों ने इस संस्कार के सातवें वर्ष में किये जाने का भी उल्लेख किया है। यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण होने पर किसी शुभ दिन में किया जाता था। प्रारम्भ में बालक को स्नान कराकर सुगन्धित पदार्थों तथा सुन्दर वेष-भूषा से अलंङ्कृत कर विनायक, सरस्वती, वृहस्पति और गृहदेवता की पूजा करायी जाती थी। इसके पश्चात् होम किया जाता था और फिर पूर्व की ओर मुंह करके बैठा हुआ गुरु पश्चिम की ओर मुंह करके बैठे हुए बालक का अक्षारम्म कराता था। चांदी की पट्टी पर केशर आदि शुभ द्रव्य बिखेर कर स्वर्ण-लेखनी से उस पर अक्षर लिखवाये जाते थे। सामान्य परिवारों में विशेष रूप से बनाई गई लेखनी से चावलों पर अक्षर लिखवाने की प्रथा भी पाई जाती थी। श्रीगणेशाय नमः, सरस्वत्यै नमः, गृहदेवताभ्यो नमः, लक्ष्मीनारायणभ्यां नमः आदि वाक्य भी इस अवसर पर लिखे जाते थे। इसके पश्चात् ऊं नमः सिद्धाय लिखा जाता था। तब बालक द्वारा गुरु की पूजा करने पर बालक द्वारा लिखे गये अक्षरों को एवं वाक्यों को तीन बार पढ़वाता था। फिर ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती थी। सधवा स्त्रियां बालक की आरती उतारती थीं तथा अन्त मे गुरु को पगड़ी या साफा मेंट किया जाता था। फिर देवताओं के अपने-अपने स्थानों को प्रत्यावर्तन के साथ यह संस्कार समाप्त होता था।

---

१. वही उद्धृत।
२. सुश्रुत—शरीरस्थान, १६.१।
३. चिकित्सास्थान, १९.२१।

११. **उपनयन संस्कार**—उपनयन संस्कार द्वारा संस्कृत व्यक्ति द्विज कहलाता था। उपनयन के बिना कोई भी व्यक्ति द्विज नहीं कहला सकता था। जिस व्यक्ति का उपनयन न हुआ हो वह समाज से बहिष्कृत तथा अपने सभी प्रकार के विशेषाधिकारों से वंचित समझा जाता था। बिना उपनयन हुए कोई भी व्यक्ति किसी आर्य कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। यह हिन्दुओं के विशाल साहित्य भण्डार के ज्ञान का भी प्रवेश-पत्र माना जाता था।

उपनयन संस्कार अत्यधिक प्राचीन है। इसका उल्लेख ऋग्वेद तक में मिलता है किन्तु इसका स्वरूप प्राचीन काल में ऐसा नहीं था जिस रूप में यह आज सम्पन्न होने लगा है। वैदिक काल में छात्र को ब्रह्मचारी कहा जाता था और ब्रह्मचारी का उपनयन उसका द्वितीय जन्म कहा जाता था। ब्राह्मण-ग्रंथों के रचना-काल में उपनयन को पूर्णतः कर्मकाण्ड का रूप मिल चुका था। ब्रह्मचारी स्वयं आचार्य के समीप जाता था और उससे अपने शिष्य होने की इच्छा व्यक्त करता था। उपनिषद् ग्रंथों के रचना-काल में उपनयन आचार्य के निकट जाने और ब्रह्मचर्य जीवन (छात्र-जीवन) में प्रवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था। इस काल में किसी व्यक्ति के नये गुरु के निकट जाने पर प्रत्येक बार नये सिरे से उपनयन कराने की प्रथा का भी उल्लेख पाया जाता है। गृह्यसूत्रों के रचना काल में उपनयन संस्कार के सभी नियमों को अत्यधिक दृढ़ रूप दे दिया गया था। प्राचीन काल में उपनयन के समय पर यज्ञोपवीत करना आवश्यक न था। यज्ञोपवीत धारण करना आधुनिक काल में ही आवश्यक हो गया है।

प्राचीन काल में उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचर्य ग्रहण करने के अर्थ में लिया जाता था किन्तु बाद में इस शब्द का प्रयोग गायत्री मंत्र द्वारा द्वितीय जन्म के धारण करने के रूप में लिया जाने लगा और भी आगे चलकर इस शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा बालक को आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ में किया जाने लगा। आधुनिक काल में इसकी शिक्षा का अर्थ पूर्णतः लुप्त हो चुका है। आज उपनयन शब्द का प्रयोग एक विशेष संस्कार के अर्थ में किया जाता है, जो द्विजन्मा के विवाह तक किसी भी समय किया जा सकता है। आज इसे जनेऊ कहा जाने लगा है और बालक को केवल यज्ञोपवीत पहनाने की प्रथा रह गई है।

उपनयन संस्कार किस आयु में हो इस विषय में विभिन्न मत हैं। विभिन्न वर्णों के अनुसार भिन्न-भिन्न आयु इस संस्कार के योग्य मानी गई थी। अनेक ग्रंथों में ब्राह्मण का उपनयन आयु के आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में करने का विधान किया गया है। कुछ विद्वानों ने ब्राह्मणों के सर्वाधिक प्रतिभावान् होने तथा अन्य जातियों के उत्तरोत्तर कम प्रतिभावान् होने को ही इस अवस्था भेद में कारण बताया है। यद्यपि सूत्रकाल के पूर्व यह संस्कार अनिवार्य नहीं था किन्तु उपनिषद् काल के अन्त तक आते आते यह पूर्णता अनिवार्य हो गया

था और बिना उपनयन हुए व्यक्ति को व्रात्य कहा जाने लगा था तथा उसकी शुद्धि के लिये अनेक विधियों का भी विधान कर दिया गया था । मध्यकाल में मुस्लिम राज्य के समय इस संस्कार की अपेक्षा की जाने लगी थी किन्तु आज सांस्कृतिक जागरण के साथ-साथ यह फिर से किया जाने लगा है ।

आचार्य का चुनाव करते समय श्रेष्ठतम आचार्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था । साधारणतः यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण होने पर किसी शुभ दिन में किया जाता था । विभिन्न वर्णों के लिये विभिन्न ऋतुएं निश्चित थीं । ब्राह्मण का उपनयन वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में, वैश्य का शरद् ऋतु में तथा रथकार का उपनयन वर्षा ऋतु में होता था । संस्कार के एक दिन पूर्व अनेक पौराणिक विधि-विधान किये जाते थे । उपनयन के पूर्व बालक के शरीर पर हल्दी के द्रव्य का लेप किया जाता था और उसकी शिखा से एक चांदी की अंगूठी बांध दी जाती थी । इसके पश्चात् उसे सम्पूर्ण रात्रि मौन रह कर व्यतीत करनी पड़ती थी । दूसरे दिन प्रातःकाल अन्तिम बार माता और पुत्र साथ-साथ भोजन करते थे । माता के भोजन के पश्चात् अनेक बालकों को भोजन कराया जाता था । भोजन के पश्चात् बालक को माता-पिता के द्वारा आह्वानीय अग्नि से युक्त मण्डप में ले जाया जाता था जहां उसका मुण्डन होता था और यदि उसका चूड़ाकरण पहले से हो चुका होता था तो साधारण रूप से ही नापित द्वारा उसका मुण्डन किया जाता था । इसके पश्चात् बालक को उसी मण्डप में स्नान कराया जाता था । स्नान के पश्चात् बालक को अपने गुह्य अंग को ढकने के लिए एक कौपीन दे दिया जाता था । इसके पश्चात् आचार्य बालक की कटि के चारों ओर एक मेखला बांध देते थे । अत्यधिक परवर्ती काल में मेखला धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र दिया जाने लगा था । इसके पश्चात् ब्रह्मचारी को अजिन अर्थात् बकरे अथवा मृग का चर्म दिया जाता था । फिर आचार्य विद्यार्थी को दण्ड देता था ।[1] इसके पश्चात् कुछ प्रतीकात्मक कार्य भी किये जाते थे जैसे इनमें से एक कृत्य था जिसमें आचार्य अपनी बंधी हुई अञ्जलि में जल लेकर विद्यार्थी की बंधी हुई अञ्जली में एक मंत्र के साथ छोड़ देता था । इसके पश्चात् आचार्य शिष्य के दाहिने कंधे की ओर पहुँच कर 'मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूं, तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी हो' आदि शब्दों के साथ उसके हृदय का स्पर्श करता था ।[2] तब ब्रह्मचारी से 'इस अश्मा पर आरूढ़ हो, तू उसी के समान स्थिर हो, तू शत्रुओं को पदाक्रान्त कर और उनको पराजित कर ।[3] इन सब शब्दों से अश्मा या प्रस्तरखण्ड पर आरूढ़ होने के लिये कहा जाता था । इन सब कृत्यों के पश्चात् गुरु के द्वारा नाम आदि पूछने के

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र, २. २. १८ ।

२. मानव गृह्यसूत्र, १. १२. १० ।

द्वारा बालक का वास्तविक रूप से स्वीकरण होता था। इसके पश्चात् उसे आदेश दिया जाता था : तू ब्रह्मचारी है, जल ग्रहण कर, दिन में शयन न कर, वाक्-संयम कर। अग्नि में समिधा का आधान कर जल ग्रहण कर।[1] तब बालक को पवित्रम् सावित्री मन्त्र का उपदेश दिया जाता था जो इस प्रकार था, 'तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमही, धियो यो नः प्रचोदयात्,' अर्थात् हम सविता वरण करने के योग्य भंग अथवा तेज को धारण करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। इसके पश्चात् यज्ञ की अग्नि को प्रदीप्त करने तथा उसमें आहुति डालने का कृत्य किया जाता था। फिर विद्यार्थी भिक्षा मांगता था। आजकल बालक एक अनुकरणात्मक तथा नाटकीय कृत्य करने लगा है जिसमें वह शिक्षा के लिये काशी या कश्मीर जाने का अभिप्राय करता है किन्तु मामा उसे बधू देने का वचन देकर उक्त स्थानों को जाने से रोकता है। इन सब विधि-विधानों की समाप्ति पर विद्यार्थी तीन दिन तक कठोर संयम के व्रत का पालन करता था जिसे त्रिरात्रव्रत कहते थे। इस प्रकार उपनयन संस्कार समाप्त होता था। ऊपर जो विधि दी गई है वह प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार दी गई है। आजकल इसमें अनेक विधियों का लोप हो गया है तथा अनेक नई विधियां भी इसमें जुड़ गई हैं।

यह संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों द्वारा ही किया जाता था, शूद्रों के लिए यह संस्कार निषिद्ध था। इसके अतिरिक्त कौपीन, मेखला, यज्ञोपवीत, अजिन, दण्ड आदि के भिन्न-भिन्न रूप भी भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये नियत किये गये थे। इस संस्कार का सर्वाधिक महत्व इसी बात में था कि इससे संस्कृत व्यक्ति द्विज अर्थात जिसका दो बार जन्म हुआ हो, कहलाता था और अन्य सब द्विज नहीं कहलाते थे। आज तो इस संस्कार से संस्कृत अथवा असंस्कृत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी द्विज कहलाने लगे हैं।

१२—**वेदारम्भ संस्कार**—प्राचीन काल में यह संस्कार नहीं किया जाता था क्योंकि उपनयन संस्कार के साथ ही बालक के वेदाध्ययन का आरम्भ हो जाता था। किन्तु परवर्ती काल में, जबकि संस्कृत बोल-चाल की भाषा अथवा बोधगम्य नहीं रह गई तो उपनयन एक निरा दैहिक संस्कार ही रह गया और इसलिये उपनयन के अतिरिक्त एक अन्य संस्कार करना भी आवश्यक समझा जाने लगा जिसके द्वारा वैदिक स्वाध्याय का आरम्भ हुआ और इस प्रकार वेदारम्भ संस्कार का जन्म हुआ। यह संस्कार उसी समय सम्पन्न होता था, जब विद्यार्थी यथार्थ में वैदिक स्वाध्याय प्रारम्भ करता था।

इस संस्कार में किसी शुभ दिन पर मातृपूजा, आभ्युदायिक श्राद्ध आदि आवश्यक कृत्य करके गुरु के द्वारा लौकिक अग्नि की प्रतिष्ठा के पश्चात् विद्यार्थी अभिमन्त्रित कर अग्नि के पश्चिम में बैठाया जाता था फिर साधारण आहुतियाँ दी जाती

१. पारस्कर गृह्यसूत्र, २. ३. २।

थीं। यदि ऋग्वेद आरम्भ करना होता तो घृत की दो आहुतियाँ अग्नि और पृथ्वी को दी जाती थीं, यदि यजुर्वेद तो अन्तरिक्ष और वायु को, यदि सामवेद तो द्यौ और सूर्य को, यदि अर्थवेद आरम्भ करना होता तो दिशाओं तथा चन्द्र को आहुतियां दी जाती थीं। यदि सभी वेदों का साथ ही अध्ययन आरम्भ करना होता, तो उक्त सभी आहुतियां साथ ही दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छन्दस तथा प्रजापति के होम किये जाते थे। अन्त में, आचार्य ब्राह्मण पुरोहित को पूर्णपात्र और दक्षिणा देकर वेद का अध्यापन आरम्भ करता था।[1]

१३—**केशान्त अथवा गोदान संस्कार**—केशान्त अथवा गोदान-संस्कार में ब्रह्मचारी की दाढ़ी मूछों का सर्वप्रथम क्षौर किया जाता था। इस अवसर पर आचार्य को गौ का दान किया जाता एवं नाई को विभिन्न उपहार दिये जाते थे। श्मश्रूओं अर्थात् दाढ़ी मूंछों का प्रथम बार क्षौर करने के कारण इसे केशान्त तथा गौ का दान किये जाने के कारण इसे गोदान संस्कार कहा जाता था।

यह संस्कार प्रायः सोलह वर्ष की अवस्था में सम्पन्न होता था। कुछ आचार्यों के अनुसार इस संस्कार के साथ ही ब्रह्मचर्य की समाप्ति हो जाती है किन्तु अधिकांश आचार्यों के अनुसार समावर्तन (आगे आने वाला संस्कार) ही निश्चित रूप से ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति का सूचक था। यह संस्कार चूड़ाकरण के संस्कार के समान ही सम्पन्न होता था। भेद केवल यही था कि इसमें सिर के बालों के स्थान पर दाढ़ी मूंछों का क्षौर होता था। चूड़ाकरण संस्कार के समान ही इस संस्कार में भी दाढ़ी-मूंछों तथा सिर के बाल और नख जल में फेंक दिये जाते थे। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य को एक गौ दान दी जाती थी। सबसे अन्त में वह मौनव्रत का पालन तथा एक वर्ष पर्यन्त कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करता था।

१४—**समावर्तन संस्कार**—समावर्तन का अर्थ होता था गुरु गृह से विद्याध्ययन समाप्त कर घर लौटना। इस प्रकार यह संस्कार ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति पर सम्पन्न होता था। स्नान इस संस्कार का एक महत्वपूर्ण अंग होता था और इसीलिये इसे स्नान संस्कार भी कहा जाता था। प्राचीन भारतीय लेखक ब्रह्मचर्य को एक दीर्घसत्र अर्थात् एक महायज्ञ मानते थे।[2] और जिस प्रकार यज्ञ करने के पश्चात् यज्ञ करने वाले को स्नान या अवभृथ करना आवश्यक था उसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी विद्या-समाप्ति के पश्चात् अवश्य स्नान करना पड़ता था।

प्राचीनकाल में यह संस्कार विद्याध्ययन की समाप्ति पर ही सम्पन्न होता था किन्तु धीरे-धीरे उपनयन संस्कार की विद्यारम्भ सम्बन्धी महत्ता के लुप्त हो जाने पर नह संस्कार न्यूनाधिक रूप में एक शारीरिक संस्कार अथवा विवाह के लिए एक प्रकार का अनुमति-पत्र समझा जाने लगा। आजकल तो अधिकांश रूप में उपनयन

---

१. गर्भपद्धति।
२. गदाधर द्वारा पारस्कार गृह्यसूत्र २.२.१५ पर उद्धृत।

अर्थात् विद्यारम्भ और समावर्तन अर्थात् विद्या की समाप्ति ये दोनों संस्कार साथ-साथ ही सम्पन्न किये जाने लगे हैं। यह संस्कार प्रायः २४ वर्ष की अवस्था में किया जाता था।

स्नान से पूर्व विद्यार्थी गुरु से शिक्षा समाप्ति के लिये प्रार्थना करता था और उसे पृथ्वी, स्वर्ण, गाय, अश्व, छत्र आदि दक्षिणा के रूप में देकर सन्तुष्ट करता था। संस्कार के शुभ दिन विद्यार्थी को एक कमरे में बन्द कर दिया जाता था। यहाँ पर एक बात स्मरण रखना चाहिये कि उस समय यह समझा जाता था कि सूर्य स्नातक के तेज से ही प्रकाशित होता है और इसीलिये कहीं सूर्य स्नातक के तेज से अपमानित न हो जाय, स्नातक को स्नान से पूर्व एक कमरे में बन्द कर दिया जाता था। मध्यान्ह में ब्रह्मचारी कमरे से बाहर आकर गुरु के चरणों में प्रणाम कर अन्तिम बार वैदिक अग्नि में आहुति देता था तथा वहां रखे हुये आठ जलपूर्ण कलशों में से एक में से ब्रह्मचर्य की अग्नि अर्थात तेज को त्यागने तथा उसी अग्नि से समृद्धि प्राप्त होने की बात कहते हुए, जल ग्रहण करता था तथा फिर उन कलशों के जल से अनेक ऋचाओं के साथ स्नान करता था फिर वह ब्रह्मचर्य के मेखला, मृगचर्म आदि चिन्हों को जल में फेंककर एक नवीन कौपीन धारण करता था। इस प्रकार अपनी नवीन वेशभूषा से अलंकृत होकर स्नातक (अर्थात जिसने स्नान कर लिया हो) विद्वानों के निकटतम समाज की ओर एक हाथी अथवा रथ पर आरूढ़ होकर जाता था और वहां आचार्य के द्वारा उसका परिचय एक सुयोग्य विद्वान के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार उस स्नातक के स्नातकोपयुक्त सम्मान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही प्राचीन काल में यह संस्कार समाप्त होता था।

१५—विवाह संस्कार—विवाह संस्कार का हिन्दू-समाज में प्राचीन काल से ही सर्वाधिक महत्व रहा है। प्राचीन काल में विवाह को एक यज्ञ माना जाता था और जो व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ-जीवन में प्रवेश नहीं करता था वह अयज्ञिय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था, जो निश्चय ही आर्यों की दृष्टि में अत्यन्त निन्दासूचक शब्द था। गृहस्थ आश्रम अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था तथा स्वर्ग-लोक एवं इस लोक में सुख की अभिलाषा करने वाले व्यक्ति को गृहस्थाश्रम का पालन करना आवश्यक समझा जाता था। उस समय विवाह वैयक्तिक न होकर एक पारिवारिक विषय था और वस्तुतः तो उस समय वंश की अक्षुण्णता को बनाये रखने के लिये सन्तानोत्पत्ति करना ही विवाह का प्रमुख लक्ष्य था।

'विवाह' शब्द का तात्पर्यय 'स्त्री और पुरुष के उस सम्बन्ध से है जो मैथुन के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, अपितु उसके पश्चात् भी जब तक उत्पन्न शिशु स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य नहीं हो जाता, विद्यमान रहता है।'[1]

---

१. विलिस्टाइन गुडसेल, पी०एच० डी०, ए हिस्ट्री आफ दि फैमिली ऐज, ए सोशल एण्ड एजूकेशन इंस्टीट्यूशन, पृष्ठ ६।

स्मृतियों में विवाहों के आठ प्रकार कहे गये हैं—ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनमें प्रथम चार को प्रशस्त अर्थात् प्रशंसनीय एवं अन्तिम चार को अप्रशस्त अर्थात अप्रशंसनीय माना गया था। विवाह किसी भी प्रकार से सम्पन्न हो किन्तु उसकी वैधता के लिये धार्मिक विधि-विधान तथा कर्मकाण्ड अनिवार्य थे।

अपने ही गोत्र में विवाह नहीं किया जा सकता था। विवाह अपने वर्ण (परवर्ती काल में जाति) में ही हो सकता था। यद्यपि प्राचीन काल में अन्तर्जातीय विवाह पूर्णतया निषिद्ध समझा जाता था तथापि धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाह पूर्णतया निषिद्ध समझा जाने लगा और इसीलिए वर्णसंकरता के काल्पनिक सिद्धान्त का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त जिस वंश या परिवार के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता होता था उसकी भी पूर्णतः परीक्षा की जाती थी। कुलों की परीक्षा के अनेक मानदण्ड भी थे। वैदिक काल से लेकर रामायण एवं महाभारत के काल तक ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उस समय विवाह वर एवं कन्या की प्रौढ़ावस्था में ही होता था। वैदिक-काल में वर–वधू इतने प्रौढ़ होते थे कि वे स्वयं किसी से विवाह का प्रस्ताव कर सकते थे अथवा किसी के द्वारा प्रार्थित हो सकते और अपनी स्वीकृति देने तथा अपने सहयोगी का चुनाव करने की योग्यता उनमें होती थी।[1] रामायण और महाभारत काल की स्वयंवर प्रथा से तो सब परिचित ही हैं। उस समय विवाह सामान्यतः कन्या के रजोदर्शन के पश्चात् ही होते थे किन्तु परवर्ती काल में अनेक अनिवारणीय परिस्थियों के कारण विवाह योग्य वय क्रमशः कम होती गई। यह प्रथा यहां तक बढ़ी कि जन्म लेते ही कन्या का विवाह किया जाने लग गया। आज फिर से भारत में प्रौढ़ विवाह को ही समर्थन प्राप्त होने लगा है। इसके अतिरिक्त वर-वध की योग्यताओं का भी हमारे धर्मशास्त्रों में प्रचुर वर्णन किया गया है।

विवाह के विधि-विधान प्राचीन काल से ही परिवर्तित होते रहे हैं फिर भी उनमें अधिक लोकप्रिय विधि संक्षेप में यहां प्रस्तुत की जा रही है। वाग्दान अथवा वर को कन्यादान की मौखिक स्वीकृति देने के पश्चात् विवाह-संस्कार के लिये एक शुभ दिन निश्चित कर लिया जाता था। विवाह के एक दिन पूर्व गणेश जी के एक प्रतीक की एक मण्डप में स्थापना की जाती थी। विवाह के दिन एक जलपूर्ण घड़ा भी इस मण्डप में (जो केवल वधू के घर पर ही होता था) स्थापित किया जाता था। प्रातःकाल वर और वधू अपने-अपने घर पर सुवासित जल से स्नान करते थे। फिर

१. ऋग्वेद १०.८५, अर्थववेद १४.१२।

वर अपने मित्रों और बान्धवों के साथ वधू के पिता के घर की ओर जाता था। वहां पहुँचने पर वर को मधुपर्क दिया जाता था। मधुपर्क का अर्थ था वर का श्वसुर के द्वारा उचित अर्चन तथा मधुर भोजन आदि से सेवा करना। तब श्वसुर इत्र, माला, यज्ञोपवीत आदि के द्वारा वधू की अर्चना करता था तथा इनके पश्चात् वर वधू को एक अधो-वस्त्र भेंट करता था। फिर वधू का पिता देवताओं से वर और वधू के हृदयों को संयुक्त करने की प्रार्थना करता था। वर और वधू के गोत्रों की उच्च स्वर से सूचना देने के पश्चात् कुछ प्रतिबन्धों के साथ कन्यादान सम्पन्न होता था। इसके पश्चात् वर और वधू के मध्य कुछ प्रश्नोत्तरों का आदान-प्रदान होता था। फिर कङ्कण बांधा जाता था। तदनन्तर राष्ट्रभृत, जय, अभ्यातन आदि अनेक होमों के पश्चात् पाणिग्रहण होता था। तब वर वधू का दाहिना पैर पत्थर पर रखवाता था तथा स्त्रियां यशोगान करती थीं। इसके पश्चात् अग्नि-प्रदक्षिणा होती थी तथा फिर सप्तपदी होती थी। सप्तपदी के पश्चात् वधू के सिर पर जल छिड़का जाता था तथा वर के द्वारा वधू का हृदय स्पर्श किया जाता था। तदनन्तर वर के द्वारा उपस्थित अभ्यागतों तथा बान्धवों से वधू को आशीर्वाद देने की प्रार्थना की जाती थी। तब एक सबल पुरुष वधू को एक लाल बैल के चमड़े पर बैठाता था। सबसे अन्त में संस्कार कराने वाला पुरोहित दक्षिणा पाता था। विवाह के अगले दिन एवं रात्रि में वर द्वारा वधू को सूर्य तथा ध्रुव तारे का दर्शन कराया जाता था। तत्पश्चात् त्रिरात्र-व्रत का क्रम आता था। विवाह-संस्कार समाप्त होने पर विवाहित दम्पत्ति उपयुक्त वाहन के द्वारा अपने घर को जाते थे। विवाह के पश्चात् चतुर्थ रात्रि में प्रातःकाल पति-गृह में गृह्य अग्नि की प्रतिष्ठा कर उसमें विभिन्न होम किये जाते थे। इस कर्म के पश्चात् पति अपने घर पर ही पत्नी को कुछ पक्व भोजन खिलाता था। विवाह के पश्चात् किसी सम दिन पर विभिन्न देवता अपने-अपने स्थानों को विदा कर दिये जाते थे तथा विवाह-मण्डप हटा दिया जाता था। हिन्दू-समाज में आज भी विवाह की यह पद्धति कुछ परिवर्तनों के साथ प्रचलित है।

१६. **अन्त्येष्टि संस्कार**—यह हिन्दू धर्म का अन्तिम संस्कार है तथा इस संस्कार के साथ मनुष्य की ऐहिक लीला समाप्त हो जाती है। इस संस्कार के सम्पन्न किये जाने के अनेक कारण थे। इनमें सर्वप्रथम था मृत्यु से भय, द्वितीय था मृत्यु के पश्चात् जीवन के सिद्धान्त में आस्था, तृतीय था मृतक के प्रेत आदि का भय, चतुर्थ था जीवित सम्बन्धियों का मृतक के भावी कल्याण के लिए प्रयत्न तथा सबसे अन्तिम प्रयोजन था शव की समुचित व्यवस्था।

अति प्राचीन काल में सम्भवतः मृत व्यक्ति के शरीर को खुले मैदान में ही छोड़ दिया जाता था, किन्तु धीरे-धीरे सामान्य रूप में शव को जलाने की ही प्रथा हिन्दुओं में सर्वमान्य हो गई। आज कुछ विशेष रोगों से मरने वाले व्यक्तियों के शवों तथा छोटे बच्चों के शवों को जल में प्रवाहित करने की प्रथा भी प्रचलित है। अपनी

मृत्यु को समीप आई जान कर व्यक्ति अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से स्नेह-पूर्वक बातें करता था तथा फिर अपने भावी कल्याण के लिये निर्धनों एवं ब्राह्मणों को वस्त्र तथा घृत आदि दान करता था। इस अवसर पर गौ के दान का सर्वाधिक महत्व था क्योंकि गौ को वैतरणी नदी को पार कराने में सहायक माना जाता था। मृत्यु के निकटतम आ जाने पर व्यक्ति का शरीर स्वच्छ भूमि पर लिटा दिया जाता था। मृत्यु हो जाने के पश्चात् शव को बांस आदि की अर्थी पर लिटाकर मृतक के सम्बन्धियों एवं मित्रों के द्वारा श्मशान भूमि की ओर ले जाया जाता था। कुछ धर्मशास्त्रों के अनुसार इस अवसर पर एक गौ भी शव के साथ श्मशान भूमि में ले जायी जाती थी और वहां उसकी बलि दे दी जाती थी। श्मशान भूमि में पहुँचने के पश्चात् उचित स्थान का चयन कर वहां शव को पूर्णतया जला देने योग्य लकड़ियां रखकर उस पर मृतक की देह रख दी जाती थी। इसके पश्चात् मृतक व्यक्ति की पत्नी उसके वाम पार्श्व में लेट जाती थी। इसी प्रकार कुछ अन्य धार्मिक क्रियाओं के भी सम्पन्न हो जाने पर चिता में आग दे दी जाती थी। शव के पूर्ण रूप से जल चुकने के पश्चात् श्मशान भूमि तक शव के साथ जाने वाले लोग बिना आसपास कुछ देखे लौट पड़ते थे। इसके पश्चात् मृतक को जला देने की क्रिया की जाती थी तथा शोकार्तों को सान्त्वना दी जाती थी। मृत व्यक्ति की मृत्यु के दिन से कुछ दिन पश्चात् तक अशौच की स्थिति मानी जाती थी। इस अवधि में कोई शुभ काम सम्पन्न नहीं होते थे तथा शोकार्त व्यक्ति कुछ नियमों का पालन करते थे। विभिन्न कालों में मृत्यु के तीसरे, पाँचवें, सातवें, तेरहवें अथा पन्द्रहवें दिन अस्थि सञ्चयन किया जाता था। प्राचीन काल में यह अस्थियां प्रक्षालित करके एक पात्र में रख दी जाती थीं अथवा एक कृष्ण मृगचर्म में बांध कर रख दी जाती थीं किन्तु आगे चलकर ये किसी पवित्र नदी में प्रवाहित कर दी जाने लगीं। अशौच की अवधि में पिण्डदान की महत्वपूर्ण क्रिया की जाती थी। दाह के पश्चात् बारहवें दिन, तीन पक्षों के अन्त में अथवा एक वर्ष के समाप्त होने पर सपिण्डीकरण की क्रिया के द्वारा मृत व्यक्ति को पितरों से सम्बन्धित कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष संक्रामक रोगों से मरने वाले व्यक्तियों, गर्भिणी स्त्रियों, नवजात शिशुओं तथा किशोर अवस्था से कम के शिशुओं की अन्त्येष्टि सम्पन्न होने की विधि पृथक थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दुओं के जीवन में जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु के पश्चात् तक संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान था। आज विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ संस्कारों की क्रियाओं में भी स्पष्टतः ही ह्रास परिलक्षित हो रहा है किन्तु मेरा विश्वास है कि अभी तक किसी विद्वान ने इस विषय का पूर्णतः वैज्ञानिक अध्ययन करने की चेष्टा नहीं की है और इसीलिये आज संस्कारों की यह पावन शृंखला कुछ अव्यवस्थित सी होती जा रही है। फिर भी यदि इस विषय में कार्य करने वालों में किसी पर गर्व किया जा सकता है तो वह 'हिन्दू-संस्कार' नामक पुस्तक के यशस्वी लेखक "डाक्टर राजवली पाण्डेय" हैं।

प्रश्न ६. प्राचीन भारत में प्रचलित विविध प्रकार के विवाहों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर—प्राचीन काल में लोग गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने के लिये अनेकों प्रकार से संयुक्त होते थे। स्मृतियों ने ऐसे आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच।[1] इनमें प्रथम चार प्रकार प्रशस्त अर्थात् प्रशंसनीय माने जाते थे तथा अन्तिम चार अप्रशस्त अर्थात् अप्रशंसनीय माने जाते थे। इनमें भी प्रथम सर्वोत्तम था, पञ्चम तथा षष्ठ किसी प्रकार सह्य थे तथा अन्तिम दो वर्जित थे। साधारणतः यह माना जाता है कि जो प्रकार जितना ही अधिक अप्रशस्त है वह उतना ही अधिक प्राचीन रहा होगा। हो सकता है इनमें दो या दो से अधिक भी एक साथ प्रचलित रहे हों। यहां पर भी इनकी विवेचना विपरीत क्रम से ही की जायेगी।

१. **पैशाच**—यह सर्वाधिक अप्रशस्त विवाह था। इस प्रकार के विवाह में छल-कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार कर लिया जाता था और इसीलिये इस विवाह को निकृष्टतम माना जाता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में मत्त, सुप्त अथवा अचेतन कन्या के हरण को ही पैशाच विवाह कहा गया है, किन्तु गौतम, विष्णु तथा मनु ने एकान्त में अचेतन, सुप्त या मत्त कन्या के साथ मैथुन करने को ही पैशाच विवाह कहा है। यह विवाह का सर्वाधिक असभ्य तथा बर्बरतापूर्ण प्रकार कहा जाता था। इसमें कन्या के साथ तत्काल तथा उसी स्थान पर बलात्कार किया जाता था जो निश्चय ही एक अवांछनीय घटना थी। सम्भवतः पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति में प्रचलित होने के कारण ही इस विवाह का नाम पैशाच पड़ा होगा। बाद में इसे पूर्णतया अमान्य कर दिया गया।

२. **राक्षस**—मनु के अनुसार 'रोती पीटती हुई कन्या का, उसके सम्बन्धियों को मार या क्षत-विक्षत कर बलपूर्वक हरण, विवाह राक्षस प्रकार का कहा जाता था।[2] विष्णु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार राक्षस विवाह का उद्भव युद्ध से हुआ है। सम्भवतः इस विवाह में केवल बल और शक्ति का ही प्रयोग नहीं किया जाता था, अपितु इसकी व्यवस्था पहले से ही वधू की स्वीकृति से जिसे अपने माता-पिता की इच्छा स्वीकार नहीं होती थी, कर ली जाती थी किन्तु इस विषय पर काफी मतभेद है कि इ

---

१. ब्राह्मो दैवस्तथा आर्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टयोऽधयः॥
—मनुस्मृति ३.२१ ; याज्ञवल्क्य स्मृति १.५८.६१।

२. हत्वा छित्वा च भित्त्वा च क्रोशन्ती रुदती गृहान्।
प्रसह्य कन्याहरण राक्षसो विधिरुच्यते॥
मनुस्मृति ३.३३।

विवाह का निश्चित प्रकार क्या रहा होगा। धीरे-धीरे यह प्रथा भी हिन्दुओं के बीच से उठ गई।

३. गान्धर्व—आश्वलायन के अनुसार 'विवाह का वह प्रकार, जिसमें पुरुष और स्त्री परस्पर निश्चय कर, एक दूसरे के साथ गमन करते हैं गान्धर्व कहलाता है।'[1] हारीत और गौतम ने विवाह के उस प्रकार को, जिसमें कन्या स्वयं अपने पति का चुनाव करती है गान्धर्व विवाह कहा है परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। मनु का कहना है, 'जब कन्या और वर कामुकता से वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक परस्पर संयोग करते हैं, तो विवाह के उस प्रकार को गान्धर्व कहते हैं।'[2] दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच इसी प्रकार का विवाह हुआ था। सम्भवतः यह विवाह हिमालय की तराई में रहने वाले गन्धर्वों में विशेष रूप से प्रचलित रहा होगा और इसलिये इसका गान्धर्व नाम पड़ा। हिन्दू समाज में यह क्षत्रियों में सर्वाधिक प्रचलित था।

इस विवाह का मूल पारस्परिक आकर्षण और प्रेम में निहित होने के कारण ही कुछ विचारक इसे प्रशस्त विवाहों की श्रेणी में रखते हैं किन्तु अधिकांश स्मृतिकारों ने इसे धार्मिक एवं नैतिक आधारों पर अप्रशस्त ही माना है। इसके अतिरिक्त इस विवाह के कामुकता से उद्भव होने तथा बिना धार्मिक क्रिया-कलापों के ही सम्पन्न होने के कारण भी इसे अन्य पांच विवाहों से हीन समझा जाता है। आज यह हिन्दू समाज से बिल्कुल लुप्त हो गया है।

४. आसुर—गान्धर्व की अपेक्षा आसुर-विवाह श्रेष्ठतर था। मनु ने लिखा है 'जिस विवाह में पति कन्या तथा उसके सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन प्रदान कर, स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या से विवाह करता है उसे आसुर कहते हैं।'[3] यह विवाह एक प्रकार का सौदा था और धन ही इस प्रकार के विवाहों में निर्णायक तत्व होता था। आजकल कन्या-पक्षी वर को धन देकर खरीदते हैं किन्तु आसुर विवाह प्रचलन के समय वर-पक्ष की ओर से ही कन्या-पक्ष को धन दिया जाता था। कुछ धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने इसे मानुष भी कहा है।

किन्तु कालक्रम से विवाह को धार्मिक स्वरूप प्राप्त होने पर कन्या, पिता द्वारा वर को दिया जाने वाला पुण्यमय व पवित्र उपहार समझी जाने लगी और कन्या-

---

१. आश्वलायन गृह्य सूत्र १.६।

२. इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वस्स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥
मनुस्मृति ३.३२।

३. ज्ञातिभ्यो द्रविण दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदान स्वाच्छन्द्यादसुरा धर्म उच्यते॥
मनुस्मृति ३.३१।

विक्रय की यह प्रथा अधिकाधिक लोभ-मूलक तथा सांसारिक समझी जाने लगी। कुछ लेखकों ने तो यहां तक कहा कि 'जो लोमान्ध होकर धन के लिए अपनी पुत्री को दे देते हैं, वे आत्मविक्रयी तथा महापातकी हैं, वे घोर नरक में गिरते तथा सात पूर्ववर्ती और परवर्ती पीढ़ियों द्वारा अर्जित पुण्यों का नाश कर देते हैं।'[1] वर्तमान काल में यह प्रथा तो बिल्कुल नष्ट हो गई है किन्तु इसके सर्वथा विपरीत प्रथा चल पड़ी है।

५. **प्राजापत्य**—मनु ने लिखा है कि प्राजापत्य विवाह उसे कहते हैं जिसमें 'पिता अपनी कन्या का विवाह योग्य वर के साथ इस उद्देश्य से कर देता है कि वे दोनों अपने नागरिक व धार्मिक कर्त्तव्यों का साथ-साथ पालन करें।'[2] इसमें पिता प्रार्थी के रूप में आने वाले वर से एक प्रकार का वचन भी प्राप्त कर लेता था। आश्वलायन ने इस विवाह की परिभाषा इस प्रकार से दी है "विवाह का वह प्रकार जिसमें 'तुम दोनों धर्म का साथ-साथ आचरण करो,' यह आदेश दिया जाता है, प्राजापत्य कहलाता है।" प्रजापति नाम से ही सूचित होता है कि नव-दम्पत्ति के प्रति अपना ऋण चुकाने अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने व उसके पालन-पोषण के लिये इस सम्बन्ध में बंधते थे। हिन्दू धारणा के अनुसार वह अन्तिम तीन प्रशस्त विवाहों की अपेक्षा निम्नतर है क्योंकि यहां दान स्वतन्त्र न होकर शर्त या समय के बन्धन में बंधा हुआ है जो हिन्दुओं की दान सम्बन्धी भावना के विपरीत है, तथापि यह विवाह प्रशस्त है। आजकल इस प्रकार के विवाह का भी लोप हो गया है।

६. **आर्ष**—जब कोई युवक कन्या के पिता को एक गौ-मिथुन प्रदान कर उससे विवाह करता है, तो वह विवाह का आर्ष प्रकार कहलाता है किन्तु इस प्रकार के आदान का उद्देश्य केवल यज्ञकार्य ही होना चाहिये। यह विवाह एक प्रकार का सौदा नहीं माना जाता था और इसीलिए आसुर-विवाह से भिन्न था तथा प्रशस्त विवाहों की श्रेणी में तीसरे स्थान पर था। यह प्रकार मुख्य रूप से ऋषि-परम्परा के पुरोहितों अथवा ब्राह्मणों के कुलों में प्रचलित था और इसीलिये इसे आर्ष कहा जाता था। यज्ञों के ह्रास के साथ विवाह का यह प्रकार भी लुप्त हो गया क्योंकि कालक्रम से कन्या के पिता की ओर से 'आदान' शब्द ही विवाह के क्षेत्र से वहिष्कृत हो गया था।

---

१. शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुता लाभमोहिताः।
आत्मविक्रियिणः पापाः महाकिल्बषकारकाः॥
पतन्ति निरये घोरे घ्नन्ति चासप्तमी कुलम्।
—बौधायन धर्म सूत्र, १-११.२१।

२. सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥
—मनुस्मृति ३.३०।

७. दैव—आर्ष से भी प्रशस्ततर विवाह था दैव। इस विवाह में पिता कन्या को अलंकृत कर अपने आराध्य यज्ञ में पौरोहित्य करने वाले ऋत्विज को दे देता था। बौधायन का कहना है कि इस प्रकार के विवाह में कन्या दक्षिणा के रूप में दी जाती थी। देवयज्ञ के अवसर पर किया जाने के कारण ही इसको दैवविवाह कहा जाता था। यह विवाह वास्तविक प्रतीत नहीं होता है तथा समाज के समृद्ध और शक्तिशाली वर्गों में बहु-विवाह प्रथा के साथ संयुक्त रखेल-प्रथा सा प्रतीत होता है। यह प्रकार प्रथा के साथ संयुक्त रखेल प्रथा सा प्रचलित था। फिर भी यह विवाह ब्राह्म की अपेक्षा अप्रशस्त माना जाता था। क्योंकि इसमें कन्यादान पुरोहित द्वारा यज्ञ में की हुई सेवा के लिये किया जाता था, जबकि ब्राह्म प्रकार में विवाह एक विशुद्ध दान था।

८. ब्राह्म—यह विवाह का सर्वाधिक श्रेष्ठ तथा विकसित प्रकार था। ब्राह्मणों के योग्य समझे जाने के कारण ही यह ब्राह्म कहलाता था। इस प्रकार के विवाह में पिता विद्वान तथा शीलसम्पन्न वर को स्वयं आमन्त्रित कर तथा उसका विधिवत् सत्कार कर, उससे शुल्क आदि स्वीकार न कर, दक्षिणा के साथ यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान करता था।[1] इस प्रकार का विवाह सर्वाधिक सम्मानित समझा जाता था क्योंकि वह शरीरिक शक्ति के प्रयोग, कामुकता, किसी प्रकार की शर्त अथवा धनलिप्सा से मुक्त था। इस प्रकार के विवाह में सामाजिक शालीनता का पूर्णरूप से पालन किया जाता था तथा धार्मिक विचारों पर ध्यान रखा जाता था। इस प्रकार का विवाह आज भी भारत में प्रचलित तथा सर्वाधिक लोकप्रिय है, यद्यपि इसमें दहेज की कुत्सित प्रथा का अवश्य प्रवेश हो गया है।

प्राचीनकाल में विवाह के इन आठ प्रकारों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार भी प्रचलित था जिसे स्वयंवर कहा जाता था। यद्यपि स्मृतियों में इसका उल्लेख नहीं मिलता किन्तु फिर भी इसे शास्त्र-सम्मत माना जाता था। इसमें कन्या अपने पति का वरण स्वयं करती थी। ऋग्वेद में भी इस प्रकार के विवाह का उल्लेख मिलता है। महाभारत काल तक आते-आते यह बहुत अधिक प्रचलित हो चुका था। इसका प्रचलन क्षत्रियों में ही था! सत्यवान और सावित्री का विवाह इसी प्रकार हुआ था। बाद में राजा लोग अपनी कन्याओं के विवाह-हेतु स्वयंवर सभाओं का आयोजन करने लगे जिनमें कन्यायें अपने पति का वरण किया करती थीं। नल और दयमन्ती का विवाह इसका उदाहरण है। प्रायः स्वयंवर के समय कुछ शर्तें रखी जाती थीं जिनके पूरा करने पर ही कोई राजा या राजकुमार उस राजा की कन्या से विवाह कर

---

१. आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्यायाः ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥
मनुस्मृति ३-२७।

सकता था। इस प्रकार के स्वयंवर का उदाहरण सीता और द्रौपदी के स्वयंवर हैं। राजाओं में बल का ह्रास होने एवं कन्याओं द्वारा कुछ विशेष कारणों से इनका विरोध किये जाने के कारण धीरे-धीरे विवाह के इस प्रकार का लोप हो गया।

इन सब प्रकारों के अतिरिक्त विनिमय विवाह, सेवा-विवाह आदि विवाह के अन्य प्रकार भी प्रचलित थे, किन्तु इनका धर्मशास्त्रियों तथा स्मृतिकारों द्वारा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। विनिमय-विवाह हिन्दू समाज में आज भी प्रचलित है किन्तु केवल कुछ दरिद्र माता पिता ही, जिनकी सन्तान की ओर साधारणत: अपेक्षित लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हो पाता, अपने पुत्र व पुत्री के विनिमय द्वारा विवाह की व्यवस्था करते हैं।

प्रश्न १०. अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर—प्राचीन काल में आर्यों में वर्ण अथवा जाति के बन्धन इतने कठोर नहीं थे जितने कि आजकल हैं। यद्यपि सामान्य रूप से विवाह एवं खान-पान अपने वर्ण अथवा जाति में ही प्रचलित थे तथापि अपनी जाति अथवा वर्ण से बाहर विवाह अथवा खान-पान पर भी कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं था। इतना अवश्य था कि अपने वर्ण अथवा जाति से बाहर किये जाने वाले विवाहों को वह सम्मान न मिल पाता था जो अपने वर्ण अथवा जाति में ही किये जाने वाले विवाहों को प्राप्त होता था। इस प्रकार के अपने वर्ण अथवा जाति से बाहर किये जाने वाले विवाह दो प्रकार के होते थे, अनुलोम तथा प्रतिलोम।

अनुलोम विवाह—अनुलोम विवाह उस विवाह को कहते थे जिसमें उच्च वर्ण अथवा जाति का पुरुष निम्न जाति या वर्ण की कन्या से विवाह कर लेता था। यद्यपि प्रारम्भ में जाति-प्रथा में असमानता का भाव सम्भवतया नहीं था, यह वर्ण-व्यवस्था की देखा-देखी ही जाति-प्रथा में समाविष्ट हुआ है। इस प्रकार के विवाहों का उल्लेख ऋग्वेद तक में प्राप्त होता है। ऋग्वेदकालीन पुरोहित वर्ग के पुरुषों के विषय में प्राय: यह कहा गया है कि उन्होंने राजवंशों में विवाह किया जैसा कि च्यवन, श्यावाश्व या विमद ने किया।[1] यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी इस प्रकार के विवाहों के उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। पाराशर ने लिखा है कि ब्राह्मण की तीन स्त्रियां हो सकती हैं, क्षत्रिय की दो और वैश्य की एक। तीन स्त्रियों का तात्पर्य क्षत्राणी एवं वैश्य-स्त्री तथा एक स्त्री का तात्पर्य वैश्य-स्त्री से है। कहने का प्रयोजन यह है कि द्विज शूद्रास्त्रियों से विवाह नहीं करते थे और यदि कर भी लेते थे तो उनकी राज-सभाओं और पुरोहित वर्ग में हंसी उड़ाई जाती थी।[2] फिर भी शूद्रा स्त्रियों से विवाह

१. ऋग्वेद १, ११२, १९, १, ११६, १; १, ११७, २०; १०, ३९।
२. यजुर्वेद, वाजसनेयी संहिता १३.३०.३१ ; तैत्तिरीय संहिता ७.४.१९. २—३।

भी उस काल में पर्याप्त प्रचलित थे और औशिज, कवष, वत्स आदि महान् व्यक्ति दासी या शूद्रा स्त्रियों से उत्पन्न हुये थे ।[1] धीरे-धीरे आगे चलकर यह प्रथा लुप्तप्रायः सी हो गई । डा० राधाकृष्णन के अनुसार १०वीं शताब्दी के बाद इस प्रकार के विवाहों को प्रोत्साहित नहीं किया गया ।[2]

प्रतिलोम विवाह—प्रतिलोम विवह का नियम अनुलोम विवाह के नियम के सर्वथा विपरीत है । इस प्रकार के विवाहों में वर्ण अथवा जाति की स्त्रियां निम्न वर्ण अथवा जाति के पुरुषों के साथ विवाह करती हैं । इस प्रकार के विवाह यद्यपि सामान्यतया निषिद्ध थे यद्यपि यजुर्वेद आदि में इस प्रकार के विवाहों के भी उदाहरण मिलते हैं । यजुर्वेद संहिता में एक स्थान पर 'आयोगु' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ विद्वानों ने इसी विवाह के रूप में किया है ।[3] आश्वलायन गृह्यसूत्र में एक प्रकार का उल्लेख आया है कि परिवार का दास परिवार की विधवा के देवर के समान होता है और वह अपने स्वामी की विधवा के साथ विवाह कर सकता है ।[4] अथर्ववेद में प्रति-स्पर्धी प्रेमी या दास उपपत्ति के विरुद्ध निरी शारीरिक शक्ति द्वारा अपनी पत्नी का प्रेम पुनः पाने के लिए एक टुटके का वर्णन किया गया है ।[5] इतना सब कुछ होते हुये भी प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसा कोई भी काल नहीं है जबकि इस प्रकार के विवाह पूर्ण रूप से प्रचलित रहे हों । धीरे-धीरे प्रतिलोम विवाहों की प्रथा भी प्रायः समाप्त सी हो गई ।

आजकल विज्ञान एवं पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से जाति-पांति और ऊंच-नीच के बन्धन कुछ कम हो रहे हैं और इस प्रकार के विवाहों को समाज में फिर से स्थान मिल रहा है किन्तु फिर भी ऐसे विवाहों का प्रचलन बहुत कम है और इसके अतिरिक्त समाज में इस प्रकार के विवाहों का सम्मान भी नहीं है ।

प्रश्न ११. प्राचीन भारत में विवाह-विच्छेद किन दशाओं में हो सकता था ?

उत्तर—वैदिक तथा उत्तर-वैदिक साहित्य में वैवाहिक कर्मकाण्डों का बड़ा ही विशद विवेचन मिलता है । इसके साथ-साथ आर्य लोगों के दैनिक जीवन का चित्र भी इस साहित्य में उपलब्ध होता है । जहां एक ओर इन ग्रन्थों में इस प्रकार के विवाह के बन्धन दृढ़ करने के विषय में तो बहुत कुछ लिखा है वहां दूसरी ओर विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में स्पष्टतया एक शब्द भी नहीं लिखा गया है । परवर्ती-

---

१. ऋग्वेद १.१८.१.११२.२ ।
२. डा० राधाकृष्णन—रिलीजन एण्ड सोसायटी पृष्ठ १७३ ।
३. यजुर्वेद संहिता ३०.५ ।
४. आश्वालयन ४.२.१८ ।
५. अथर्ववेद २.५.६ ।

कालीन साहित्य में तो एकाध स्थल पर इस प्रकार का संकेत मिल भी जाता है किन्तु वेद आदि ग्रन्थों में तो एक स्थान पर भी इस विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा गया है।

ऋग्वेद आदि चारों वेदों के रचना काल में तो किसी भी विधि से विवाह-विच्छेद हो ही नहीं सकता था। ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है कि विधिवत् सम्पन्न हुये विवाह को पुरुष या स्त्री किसी भी तरह समाप्त नहीं कर सकते थे। उस समय सम्भवतया यही प्रचलन था कि किसी दोष के कारण भी पति और पत्नी का सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता था।[1]

सूत्रकाल में कुछ उल्लेखों से पता चलता है कि उस समय कुछ विशेष दशाओं में विवाह-विच्छेद हो सकता था। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में एक स्थान पर अन्यायपूर्वक अपनी पत्नी का त्याग करने वाले पति के लिए दण्ड का विधान किया गया है। इससे पता चलता है कि जब अन्याय से पत्नी-त्याग करने वाले के लिये दण्ड का विधान था तो कुछ दशाओं में न्याय रूप में भी सम्बन्ध विच्छेद हो सकता होगा।

स्मृति-काल में इस सम्बन्ध में सम्भवतया कुछ और शिथिलता आ गई थी। मनुस्मृति के कुछ वाक्य जैसे "यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना" (अर्थात् जो पति है वही पत्नी भी कही गई है) तथा—

"न निष्क्रियविसर्गाभ्यां भतुर्भाया विमुच्यते।
एव धर्म विजानींमः प्राक्प्रजापतिर्निर्मितम्॥"

(निष्क्रिय अर्थात् मूल्य-प्रदान तथा विसर्ग अर्थात् इच्छापूर्वक छोड़ देने से भी पति से पत्नी नहीं छूट सकती, इस प्रकार के प्रजापति द्वारा बनाये गये धर्म को हम जानते हैं आदि) जहां यह उपपादित करते हैं कि विवाह-सम्बन्ध अविच्छेद्य था वहां दूसरी ओर कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि कुछ विशेष दशाओं में पति-पत्नी का सम्बन्ध टूट भी सकता था। मनुस्मृति में ही एक स्थान पर कहा गया है—

"विधिवत् प्रगृह्यापि त्यजेत्कण्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्र दुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम्॥"

(विधिपूर्वक ब्याहे जाने पर भी कन्या को उसके निन्दित रोगिणी, व्यभिचारिणी अथवा छलपूर्वक दिये जाने पर छोड़ दे।) एक दूसरे स्थल पर लिखा है—

"संवत्सर प्रयीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।
ऊर्ध्वं सवत्सरात्वेनां दाय हृत्वा न संवसेत्॥"

(अर्थात् यदि पत्नी-पति से द्वेष-भाव रखती हो तो पति को एक वर्ष तक उसके सुधार की चेष्टा करनी चाहिये, किन्तु वर्ष पूरा हो जाने पर भी सुधार न होने

---

१. ऋग्वेद १०।८५।

पर पत्नी को उसके भाग से वंचित कर उसके साथ न रहे)। किन्तु इसके साथ ही यह भी उल्लेख किया गया है जो स्त्री पति के उन्मत्त (पागल), पतित, नपुंसक और कोढ़ी आदि पाप रोगी होने के कारण पति से द्वेष करती थी वह त्याज्य नहीं समझी जाती थी। ("उन्मत्तं पतितं क्लीबं बीजं पापरोगिणाम्। न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायावर्तनम्")।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतिकाल में कुछ विशेष दशाओं में पति पत्नी का त्याग कर सकता था। पत्नी भी कुछ विशिष्ट दशाओं में पति का त्याग कर सकती थी, जैसे यदि विदेश गया हुआ पति नियत समय पर न लौटे और उसके आने की आशा भी न रहे तथा उसका कुछ पता भी न चले तो पत्नी अपने पूर्व पति को छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर सकती थी।

इन सब प्राचीन नियमों को जब हम आधुनिक युग की तुलना में रखते हैं तो एक हास्यास्पद सी स्थिति सामने आ जाती है। कहां तो एक विवाह के पश्चात् दूसरा विवाह करना भी गर्हणीय समझा जाय और कहां एक दर्जन विवाह बिना कारण के हो जाने पर भी तेरहवें विवाह की पिपासा रह ही जाती है।

प्रश्न १२—प्राचीन भारत में प्रचलित आश्रम-व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिये तथा इसके महत्व का भी निर्देश कीजिये।

उत्तर—आश्रम-व्यवस्था प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। प्राचीनकाल में भारत में इस जीवन को एक पवित्र यात्रा माना गया था तथा एक बड़ी यात्रा के ही समान इस जीवन-यात्रा में चार आश्रमों रूपी विश्राम स्थलों की योजना की गई थी। प्रत्येक मनुष्य के लिये इन चारों आश्रमों में प्रवेश करना आवश्यक था और इस व्यवस्था का सम्यक् रूप में पालन करने से ब्रह्म-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति तक हो सकती थी, इस प्रकार का प्राचीन भारतीयों का दृढ़ विश्वास था।

चार आश्रम इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मचर्य
(२) गृहस्थ
(३) वानप्रस्थ
(४) सन्यास

१. **ब्रह्मचर्याश्रम**—वेदों के अनुसार प्राचीनकाल में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती थी। मानव जीवन की इस समस्त अवधि का चार भागों में विभाजन किया गया था और इन्हीं को आश्रम कहा गया था। उपनयन संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करना पड़ता था और तदर्थ

गुरुकुल से जाना पड़ता था। प्रत्येक बालक एक, दो या तीन वेदों का अध्ययन समाप्त कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। एक वेद पढ़ने के लिये १२ वर्ष, दो वेदों का अध्ययन करने के लिए २४ वर्ष तथा तीन वेदों को पढ़ने के लिये ३६ वर्ष का समय नियत था। वेदाध्ययन के अनुसार ही ब्रह्मचर्याश्रम का समय घट बढ़ सकता था। वेदाध्ययन के लिये बालक को ब्रह्मचारी बनकर गुरु के चरणों में बैठकर ही ज्ञानोपार्जन करना पड़ता था। प्राचीनकाल में ब्रह्मचर्य का अर्थ आजकल की भांति केवल इन्द्रिय निग्रह नहीं समझा जाता था वरन् ब्रह्मचर्य का सच्चा अर्थ होता था ब्रह्म अर्थात् सत्य[1] को प्राप्त कराने वाली जीवन-चर्या।

ब्रह्मचारी को बहुत ही सरल जीवन बिताना पड़ता था तथा अपने बड़े से बड़े शारीरिक सुख की बलि देकर भी उसे सब नियमों का पालन करना पड़ता था। उसका प्रथम कर्त्तव्य था अग्निचर्या अर्थात अग्नि में यज्ञ-होम आदि करना। यज्ञ की पवित्र अग्नि के लिये उसे प्रातः सायं वन से समिधायें लानी पड़ती थीं। दैनिक-क्रिया को करने के पश्चात विद्यार्थी का दूसरा कार्य था आसपास के ग्रामों से भिक्षा मांगकर लाना। धीरे-धीरे भिक्षाचरण का यह नियम कुछ शिथिल हो गया था। वास्तव में भिक्षाचरण का उद्देश्य सम्भवतः ब्रह्मचारियों के बीच से गरीब एवं धनवान होने के विचार को दूर करना था क्योंकि भिक्षाचरण सबके लिए अनिवार्य था चाहे वह राजा का पुत्र हो और चाहे गरीब ब्राह्मण का पुत्र। इन सब कर्त्तव्यों के होते हुए भी विद्यार्थी का सबसे ऊंचा कर्त्तव्य था वेदाध्ययन और इसके लिये उसे अपना दैनिक जीवन भी बहुत पवित्र बनाना पड़ता था। उसके लिए शहद, मांस, गन्ध, माला, रस, शरीर में उवटन और नेत्रों में काजल लगाना, पादुका और छत्र का धारण करना, काम (सब प्रकार का विषय भोग) क्रोध, नृत्य, गीत और वाद्यादि, वस्तुओं का निषेध था। जुआ, निरर्थक वाद-विवाद, पर-निन्दा, असत्य भाषण, स्त्रियों की ओर देखना आदि भी उसके लिये वर्जित थे।

ब्रह्मचारी भी दो प्रकार के होते थे, एक तो उपकुर्वाण अर्थात गरुदक्षिणा देकर घर लौटने वाले और नैष्ठिक अर्थात आयुपर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर विद्याध्ययन करने वाले।

२. **गृहस्थाश्रम**—ब्रह्मचर्य की समाप्ति होने पर विद्यार्थी का स्नान अथवा समावर्तन संस्कार सम्पन्न होता था तथा उसे स्नातक की उपाधि मिलती थी, जो वास्तव में विवाह करने का ही एक प्रकार का अनुमति-पत्र था। इस आश्रम का अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा अधिक महत्व था। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम के लोगों को भिक्षा के लिए इसी आश्रम में रहने वालों पर निर्भर रहना पड़ता था।

---

१. 'सत्यं वै ब्रह्म'—बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६, ५।४।१, ५।५।१।

ब्रह्मचर्य आश्रम में जिन तीन ऋणों को चुकाने की तैयारी की जाती थी उन सबको कार्यरूप में लाने का अवसर इसी आश्रम में मिलता था । पितृऋण से मुक्ति के लिए इस आश्रम में ही श्रेष्ठ सन्तानें उत्पन्न करना पड़ती थीं । इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन के द्वारा आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होकर अन्य दो ऋणों को चुकाने की व्यवस्था भी इसी आश्रम में की जाती थी । इसके साथ ही साथ पुरुषार्थ के साधक धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इस वर्गचतुष्टय की साधना की तैयारी भी इसी आश्रम से प्रारम्भ करनी पड़ती थी ।

इस आश्रम में आजकल की भांति निजी इन्द्रियलोलुपता का कोई स्थान नहीं था वरन् इसके स्थान पर समाज में नैतिकता का स्थान सर्वोपरि था । प्रत्येक गृहस्थ को यज्ञादि के द्वारा धार्मिक जीवन व्यतीत कर ग्राम, नगर, देश आदि के शासन-कार्य में पूर्णतया भाग लेना पड़ता था । द्रव्यादि का अर्जन करते हुये भी प्रत्येक गृहस्थ को अपने भाग में से कुछ न कुछ अवश्य त्याग करना पड़ता था, इस व्यवस्था के कारण धनाधिक्य, धनलोलुपता व स्वार्थवृत्ति का नियमन करने में अच्छी सहायता मिलती थी । गृहस्थों को सर्वोत्तम आदेश यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में दिया गया है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यतकिञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

अर्थात् इस संसार में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है । इसीलिए त्याग करके ही भोजन करो एवं किसी धन को ग्रहण मत करो ।

प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ (अतिथि यज्ञ) इन पांच महायज्ञों का करना प्रत्येक गृहस्थ के लिये अनिवार्य था । ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य था, वेदों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा ज्ञानवृद्धि में संतत प्रयत्नशील रहना । पितृयज्ञ से साधारणरतयः मृत पितरों से सम्बन्धित तर्पण-कर्म का भाव लिया जाता था । अग्नि में हवन देवयज्ञ कहलाता था । भूतयज्ञ, जिसका दूसरा नाम बलिवैश्वदेव भी था, में जो कुछ भी भोजन बना उसमें से थोड़ा सा मन्त्रों का उच्चारण करते हुये पाकशाला की अग्नि में डालने का विधान किया गया था । नृयज्ञ के अन्तर्गत अतिथियों की यथा-वत् सेवा करना आता था । इन पांच महायज्ञों का यथाविधि सम्पादन करना प्राचीनकाल में गृहस्थाश्रम का एक महत्वपूर्ण अंग था ।

इसके अतिरिक्त सात पाक यज्ञों का भी विधान गृहस्थ के लिये किया गया था । यह नियत समय पर छोटी इष्टियों के रूप में किये जाते थे । ये निम्न-लिखित हैं —

अष्टका (कार्तिक से माघ तक के चार महीनों में कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन होने वाली इष्टि), श्रावणी (श्रावण मास की पूर्णिमा के दिन), आग्रहायनी (अग्रहायन मास की चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन), चैत्री (चैत्र मास की पूर्णिमा के

दिन), आश्वयुजी (आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन), फार्वण (अमावस्या और पूर्णिमा को होने वाली दर्शपौर्णमास इष्टियां) और श्राद्ध (प्रतिमास अमावस्या को पितरों का मासिक श्राद्ध)।

प्रत्येक गृहस्थ का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य अपने आश्रित व्यक्तियों का भरण-पोषण करना था। यदि कोई व्यक्ति अपने आश्रित व्यक्तियों की उपेक्षा कर अन्य मनुष्यों के साथ उदारता का व्यवहार करता था या स्वर्ग में सुखप्राप्ति हेतु कोई कार्य करता तो वह दण्डनीय समझा जाता था।

इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ को अपने सभी नियमों का पालन करते हुये गृहस्थ आश्रम की समाप्ति पर जीवन के तृतीय आश्रम वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ता था।

३ **वानप्रस्थाश्रम**—मनुस्मृति में कहा गया है कि जब गृहस्थ यह देखे कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल हो गई है अर्थात् झुर्रियां पड़ गई हैं, केश पक गये हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गया तब गांव के आहार को एवं शय्या आदि त्यागकर स्त्री पुत्रों के हाथ सौंप या स्त्री को साथ लेकर वन को जाये।

प्रत्येक गृहस्थ को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते समय दारैषणा वित्तैषणा एवं लोकेषणा को छोड़ना पड़ता था। दारैषणा का अर्थ होता है स्त्री की इच्छा, वित्तैषणा का अर्थ होता है धन की इच्छा तथा लोकेषणा का अर्थ होता है संसार की अन्य वस्तुओं की इच्छा। गृहस्थाश्रम में इन तीनों का यथेष्ठ आस्वादन् कर चुकने के पश्चात् जीवन के शेष भाग के लिये इनका त्याग कर देना ही उत्तम होता है क्योंकि इन इच्छाओं के जीवन भर साथ रहने पर मनुष्य जीवन के नष्ट होने तथा समाज में चारों ओर अशांति फैलने की आशंका रहती है और आज हम वह स्थिति अपने समक्ष देख भी रहे हैं। आज भी यदि विश्व में इस आश्रम-व्यवस्था का भली प्रकार पालन किया जाय तो आज जो यह द्वेष, वैमनस्य एवं स्वार्थ आदि का साम्राज्य चारों ओर फैल रहा है वह निश्चित रूप से नष्ट हो जायेगा।

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को वल्कल, मृगचर्म या पुराने वस्त्रों से अपने शरीर को आच्छादित करना, प्रातः एवं सायं दोनों समय स्नान, जटा और दाढ़ी के बालों को और नखों को धारण करना, नित्य स्वाध्याय, द्वन्द्वों का सहना, प्रतिग्रह न लेना, कन्दमूल-फलादि का भोजन, पृथ्वी पर शयन, ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) और अनिचयी (वस्तुओं का संग्रह न करने वाला) होना एवं प्राणियों के प्रति दया-भाव रखना आवश्यक था।

इस आश्रम का मुख्य लक्ष्य था तप आदि की साधना द्वारा संयम की प्राप्ति। गृहस्थ आश्रम में जो त्रुटियां रह जाती थीं उनका यहां पर परिष्कार किया जाता था। वानप्रस्थ आश्रम में आकर लोग आत्मविकास के मार्ग में प्रवृत्त होते थे तथा देश एवं समाज के हित का ध्यान रखते हुये अपने परिपक्व ज्ञान एवं अनुभव के सहारे

जीवन-मरण की गुत्थियां सुलझाने में सतत् प्रयत्नशील रहते थे। मनुस्मृति के छठे अध्याय में प्रथम पैंतीस श्लोकों में इस आश्रम का बड़ा सुन्दर एवं सांङ्गोपाङ्ग विवरण प्रस्तुत किया गया है।

४. **सन्यासाश्रम**—संसार के मायामोह के बन्धनों को तोड़कर वानप्रस्थी चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर समाज-सेवा व मोक्ष-प्राप्ति दोनों के लिये प्रयत्नशील हो जाता था। सन्यासाश्रम को यह नाम इसलिये दिया गया था क्योंकि इसमें सब सांसारिक बन्धनों को तोड़कर फेंक देना होता था। मनु जी ने इस आश्रम के विषय में कहा है—

सन्यस्य सवकर्माणि कर्मदोष नपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं दसेत् ।।

अर्थात सब कर्मों को छोड़कर कर्म-दोषों का नाश करते हुये नियम पूर्वक वेदों का अध्ययन कर पुत्र द्वारा दिये गये भोजन-छादन प्राप्त कर सुखपूर्वक रहे।

'सन्यास' शब्द का शाब्दिक अर्थ भी 'त्याग' होता है। सन्यास आश्रम को ग्रहण किये हुये ये सन्यासी देश भर में घूम-घूम कर सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करते थे तथा समाज की त्रुटियों को दूर कर उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करते थे। इनका नियंत्रण राजा तक पर रहता था। राजा को मंत्रणा देना एवं प्रजा की देखभाल करना भी इन्हीं का कार्य था। समाज का आध्यात्मिक जीवन भी इनके ही हाथों में था। समाज सेवा इनका चरम लक्ष्य था। यह गृहस्थों से भिक्षा प्राप्त कर अपना उदर-निर्वाह करते थे। इनको प्रमोद आदि में फंसने देने से रोकने के लिये भी कड़े नियमों की व्यवस्था की गई थी। स्वार्थ, द्वेष, मोह एवं मत्सर से इन्हें बिल्कुल अलग रहना पड़ता था। विश्व की कोई भी सम्पत्ति इनके मार्ग की बाधक नहीं बन सकती थी। इन्हीं सब कारणों से इनकी समाज के द्वारा पूजा होती थी।

सन्यासी दण्ड-कमण्डल धारण कर विचरण करते थे। उनके लिये लौकिक अग्नि का संसर्ग न करना केवल भोजन के लिये ग्राम का आश्रम लेना, दुष्टों का संग न करना, स्थिरमति होना एवं ब्रह्मचिन्तन में ही लगे रहना, संग्रही न होना, सबमें समता भाव रखना, मन और वाणी का पूर्ण संयम, असत्य भाषण न करना, निरामिष भोजी होना और किसी प्रकार की हिंसा न करना आवश्यक था।

आश्रम व्यवस्था का महत्व—भारतीयों के जीवन में इस प्रकार की आश्रम-व्यवस्था का अत्यधिक महत्व था। प्राचीन काल में इस व्यवस्था के अनुसार ही अपना जीवन-क्रम बनाना एक प्रकार से अनिवार्य था। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता था। इस व्यवस्था का विकास करने में मनुष्य के मन, बुद्धि, आत्मा आदि के परम हित का पूरा ध्यान रखा गया था। यह व्यवस्था वास्तव में देश-काल से परिसीमित नहीं थी और आज के इस वैज्ञानिक युग में भी यह व्यवस्था विश्व भर में अपनाई जा सकती है तथा विश्व-कल्याण की चरम

साधिका बन सकती है। प्राचीन भारत में इस व्यवस्था के होने के कारण ही एक धनाढ्य भाई अपने धनविहीन भाई को किसी प्रकार की आपत्ति में नहीं देख सकता था। यह तो वास्तव में समाज की व्यवस्था की सुचारु रूप से चलने की एक योजना थी। चातुराश्रम-व्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य मनुष्य को उसके जन्म से ही प्राप्त पितृ-ऋण, देवऋण और ऋषिऋण से मुक्त करना ही था। मानव जहाँ एक ओर ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम में ज्ञान का अर्जन, संरक्षण एवं संवर्धन करके ऋषिऋण से उऋण होने का प्रयास करता था वहां दूसरी ओर वह गृहस्थाश्रम में सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान पालन द्वारा पितृऋण को एवं अतिथियों आदि की पूजा से देवऋण को चुकाता था।

प्रश्न १३. "धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इस वर्गचतुष्टय की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है," इस कथन की चरितार्थता सिद्ध कीजिये। अथवा वर्गचतुष्टय से क्या समझते हैं ? प्राचीन काल में भारतीय जीवय में इसकी महत्ता का निर्देश कीजिये।

उत्तर—प्राचीन भारतीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य भली प्रकार निर्धारित कर दिया गया था। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति भली प्रकार जानता था कि उसे अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना है। इन चारों को ही वर्ग चतुष्टय करते थे तथा इन्हीं को पुरुषार्थ कहा जाता था। पुरुष का अर्थ है जीवात्मा, जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति से ही प्रकट है 'पुरि शरीरे शयनात् पुरुषः' अर्थात् जीवात्मा। इस जीवात्मा के जीवन की सफलता इन चारों बातों में निहित है और इसीलिये इन्हें पुरुषार्थ कहा गया है।। इन चारों में ऐहिक और पारलौकिक उन्नति का सार निहित है। मानव-जीवन में जिन सुखों का एवं उन्नतियों की संभावना की जा सकती है वे सभी इस वर्ग-चतुष्टम में समाहित हो जाती हैं।

प्रथम पुरुषार्थ धर्म है। धर्म प्रजा धारण करता है। इसीलिये धारण करने से यह धर्म कहलाता है जैसा कि कहा भी है—

"धारणात् धमयित्याहुः धम धारयति प्रजाः।"

कणाद् मुनि के द्वारा वैशेषिक सूत्रों में धर्म का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धिः स धमः।"

अर्थात् जिससे अभ्युदय (उन्नति) एवं कल्याण की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। अभ्युदय से तात्पर्य इस लोक में मिलने वाली उन्नति से है तथा निःश्रेयस् का तात्पर्य है परलोक में प्राप्त होने वाला कल्याण। कहने का प्रयोजन यह है कि ऐसे नियम धर्म कहलाते हैं, जो व्यक्ति की शारीरिक, सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति

करते हैं। कालिदास ने कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में ब्रह्मचारी वेशधारी शंकर के मुख से पार्वती को सम्बोधित कराकर धर्म को अर्थ एवं काम इस त्रिवर्ग का सार कहलवाया है—

"अनेन धर्म साविशेषमद्य मे त्रिववर्गसारः प्रतिभाति मामिनी।"

धर्म से व्यक्ति और समाज की उन्नति होती है क्योंकि व्यक्ति-हितकारी और समाज-हितकारी कर्त्तव्य ही कर्म कहलाते हैं। प्रजा और राजा के कर्त्तव्य भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। समाज के सब व्यक्तियों के एक दूसरे के प्रति किये जाने वाले कर्त्तव्य धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं। यहां तक गुरु-शिष्य, पितापुत्र, पति-पत्नी आदि के सब कर्त्तव्य भी धर्म के अन्तर्गत हैं। विभिन्न सम्बन्धों से विशिष्ट होकर ही धर्म के विशेष-विशेष अभिधान होते हैं जैसे मित्र-धर्म, पतिव्रतधर्म आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म ही भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का मूल है। कहा भी गया है—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षतिः।"

अर्थात् जो धर्म का पालन करता है, धर्म उसका हनन कर देता है तथा जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

अर्थ दूसरा पुरुषार्थ है। जो धन-सम्पत्ति एवं धन-धान्य धर्म-पूर्वक प्राप्त किया जाय वही अर्थ है तथा अन्य सभी कुछ अनर्थ है। अर्थ की मानव-जीवन में अतीव आवश्यकता होती है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये तथा जीवन निर्वाह करने के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है। राष्ट्र एवं समाज के निर्माण तथा विकास के लिए भी अर्थ की आवश्यकता होती ही है। अर्थशास्त्र ने तो अर्थ को राष्ट्र का मूल ही बताया है, "राष्ट्रस्य मूलमर्थः"। अतः चारों पुरुषार्थों में अर्थ का महत्व-पूर्ण स्थान है, क्योंकि मनुष्य की समग्र भौतिक उन्नति का आधार धर्म ही है किन्तु इतना होते हुये भी अर्थ को ही सब कुछ नहीं जाना जा सकता क्योंकि अर्थ उन्नति प्राप्त करने का साधन-मात्र है, साध्य नहीं। वह जीवन में सुखोपभोग करने का एक साधन अवश्य है किन्तु जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है।

मनुष्य का तीसरा पुरुषार्थ काम है। 'काम्यत जनैरिति कामः सुखः' अर्थात् जिसकी मनुष्यों द्वारा कामना की जाय उसे काम कहते हैं। इस प्रकार काम का अर्थ सुख किया गया है। यहां पर यह ध्यान रखना चाहिये कि यहां पर काम का वह कुत्सित अर्थ नहीं है जिस अर्थ में आज यह शब्द सारे समाज में प्रचलित हो रहा है। सुख ही प्रत्येक प्राणी का काम्य है तथा प्रत्येक प्राणी सुख पाने के लिये ही प्रयत्नशील रहता है। आज भी सारे संसार में अर्थ और काम की प्राप्ति के लिये ही चोटी का संघर्ष चल रहा है। इसीलिये आज इनका प्राप्त करना भी काफी कठिन हो गया है। प्राचीन काल में अर्थ एवं काम को धर्म के अन्तर्गत माना जाता था कि धर्म करने से अर्थ एवं काम स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु आज अर्थ और काम के समक्ष धर्म

का स्थान गौणातिगौण हो गया है और इसीलिए संसार में आज इतनी अशान्ति एवं कलह के मेघ दिन प्रतिदिन अधिकाधिक घने होते जा रहे हैं। पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तर्गत तो समाज के कल्याण में बाधक बनने वाले अर्थ एवं काम की वर्जना की गई है। पुरुषार्थचतुष्टय का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य की लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति करना है। इसीलिये शास्त्रों में ऐसे अर्थ एवं काम की भी भर्त्सना की गई है जो इस लोक में तो क्षणिक अथवा कुछ काल तक स्थायी सुख के दिन वाले हों किन्तु परलोक को बिगाड़ने वाले हों। इतना होते हुये भी संसार के वे सब वैभव और आमोद-प्रमोद जो धर्म एवं मोक्ष के साधन हों, काम के अन्तर्गत आते हैं।

मनुष्य का चतुर्थ एवं चरम पुरुषार्थ है मोक्ष प्राप्ति। दुखों से आत्यन्तिक मुक्ति हो जाना ही मोक्ष कहलाता है और यही परम पुरुषार्थ है। जैसा कि कपिल मुनि ने भी कहा है—

"अथ त्रिविधदुःखात्य ततिवृत्तिरत्य तपुरुषार्थः।"

दुःख तीन प्रकार के होते हैं—दैहिक, दैविक एवं आध्यात्मिक। स्त्री, भोजन, वस्त्र आदि सांसारिक वस्तुओं के प्राप्त न होने से होने वाला दुःख दैहिक अथवा भौतिक दुःख कहलाता है। सांसारिक वस्तुओं से किसी अन्य प्रकार से प्राप्त होने वाला दुःख भी इसी के अन्तर्गत आता है। दैविक दुःखों का अर्थ है भूतात्मा, प्रेतात्मा आदि से प्राप्त दुःख तथा अनेकों अन्य दैवी कारणों से प्राप्त दुःख। आध्यात्मिक दुःखों का अर्थ होता है आत्मा से सम्बन्धित कष्ट अथवा दुःख। इस प्रकार इन्हीं आधिभौतिक, आदिदैविक तथा आध्यात्मिक निवृत्ति का अर्थ है ऐसा छुटकारा जिसमें फिर कभी न फंसना पड़े। आत्यन्तिक निवृत्ति इसीलिये कहा गया है क्योंकि स्वर्ग आदि सुखों में भी इन तीनों दुःखों की निवृत्ति हो जाती है किन्तु फिर भी यह निवृत्ति सदैव के लिए नहीं होती। स्वर्गादि सुखों का उपभोग एक निश्चित समय के लिये ही प्राप्त होता है और इसके पश्चात् वह नष्ट हो जाता है तथा प्राणी को फिर से इस संसार में सुख-दुःख के बन्धन में फंसना पड़ता है। मोक्ष में दुःख की निवृत्ति इस प्रकार की होती है कि दुःख फिर से नहीं प्राप्त होता। इसलिये दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् सदैव के लिये छुटकारे को ही मोक्ष कहा गया है। अत्यन्त पुरुषार्थ का अर्थ है चरम पुरुषार्थ। धर्म के पालन एवं पराविद्या के ज्ञान से मनुष्य इन दुःखों से मोक्ष पा जाता है और मोक्ष के परे मनुष्य को कुछ भी करना अवशिष्ट नहीं रह जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य की ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति का द्योतन कराते हैं। इस वर्ग चतुष्टय में ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों का समावेश हो जाता है। धर्म, अर्थ और काम के द्वारा जहां मनुष्य इस संसार में प्रवृत्त होता है वहां वह मोक्ष के द्वारा इस संसार से निवृत्त भी हो सकता है। भारतीय संस्कृति में इनके द्वारा जीवन का समुचित स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया

गया है। इनमें जहां एक ओर लोक में सब प्रकार के कल्याण का समावेश वहां परलोक में प्राप्त होने वाला सर्वोच्च कल्याण भी इनसे अछूता नहीं है। जीवन का कोई भी अंश ऐसा नहीं है जो पुरुषार्थ चतुष्टय में न आये। जीवन में जो कुछ आवश्यक है वह इस पुरुषार्थ चतुष्टय में है और जो इस पुरुषार्थ चतुष्टय में नहीं है उसकी जीवन में आवश्यकता भी नहीं है। अन्त में इस प्रश्न का उत्तर यह कहते हुये समाप्त किया जा सकता है कि इस पुरुषार्थ चतुष्टय की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है तथा इसके बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ ही है जैसा कि 'हितोपदेश' के निम्नलिखित वाक्य में भी निर्दिष्ट है—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म सदा वृथा॥"

अर्थात् इस संसार में जिस व्यक्ति के पास धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चारों में से एक भी नहीं है उसका जन्म इस संसार में उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार बकरी के गले में लटकती हुई खाल सर्वथा निष्प्रयोजन होती है।

प्रश्न १४. आर्यों के खानपान के विषय में जो कुछ जानते हों लिखिये।

उत्तर—शारीरिक विकास भी भारतीय संस्कृति का मुख्य अंग था। प्राचीन भारतीयों ने शरीर के स्वस्थ रहने का महत्व भली प्रकार समझ लिया था। इसीलिये प्राचीन काल में भोजन, पानी एवं वेष-भूषा आदि सभी का प्रबन्ध करते समय स्वास्थ्य का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता था।

खान पान—अन्न व शारीरिक विकास के घनिष्ट सम्बन्ध से भी भारतीय भली प्रकार परिचित थे। आयुर्वेदादि के ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की योजना की प्रक्रियाओं का वर्णन आया है जिनमें बताया गया है कि अन्न से किस प्रकार रक्त, मेदा, मज्जा, वीर्य आदि बनते हैं। शारीरिक पुष्टि के लिये अन्न का शुद्ध रहना भी अतीव आवश्यक था। उस समय भोजन तीन प्रकार का माना गया था, सात्त्विक, राजस एवं तामस। श्रीमद्भगवद्गीता में इन तीनों प्रकार के भोजन की अच्छी विवेचना की गई है।

आयु, सत्त्व, आरोग्य, सुख एवं प्रीति को बढ़ाने वाले रसयुक्त स्निग्ध (अर्थात् चिकनाई से युक्त), स्थिर (कुछ देर तक ठहरने वाले) तथा हृद्य (हृदय को अच्छे लगने वाले) आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं। ये सात्त्विक आहार होते हैं—कटु, अम्ल (खट्टे, लवण, नमकीन), बहुत गरम, तीखे, रूखे एवं जलाने वाले आहार के पदार्थ, जो दुःख, शोक एवं पीड़ा के देने वाले होते हैं, राजस व्यक्ति के प्रिय होते हैं। ये राजस आहार होते हैं। जो भोजन अधपका, रस रहित और

दुर्गन्धयुक्त एवं वासी और उच्छिष्ट हैं तथा इसके अतिरिक्त जो अपवित्र भी हैं, वह भोजन तामस व्यक्ति को प्रिय होता है। इस प्रकार के आहार तामस होते हैं।[1]

इसी भोजन के छः अन्य प्रकार भी बताये गये हैं जिनके कारण "षट्रस भोजन" नाम पड़ा है। आधुनिक स्वास्थ्य-शास्त्र के अनुसार भोजन में जिन चार द्रव्यों का रहना आवश्यक बताया गया है हमारे प्राचीन षट्रस भोजन में उन सबका समावेश हो जाता है।

भारतीय भोजन-व्यवस्था में साधारणतया प्राचीन काल से अब तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। रोटी, दाल, चावल, शाक आदि चारों पदार्थ ही सदैव से भारतीय भोजन-व्यवस्था के अंग रहे हैं। आर्य लोग विशेषतः मूंग, उड़द और मसूर की दाल का प्रयोग करते थे। ऋग्वेद में मूंग की खिचड़ी (मुग्दौदन) का भी उल्लेख मिलता है।

प्राचीन काल के भोजन पदार्थों में दाल, भात, शाक एवं रोटी इन पदार्थों के अतिरिक्त अनेक अन्य भोज्य पदार्थों का भी उल्लेख मिलता है। दूध एवं उससे बनने वाले दधि एवं घृत का भोजन में अत्यधिक महत्व था। क्षीरपाकौदन अर्थात् खीर का भी उल्लेख मिलता है। दही डालकर भी चावल पकाया जाता था जिसे दह्योदन कहते थे। खूब घी डालकर बने हुए माल पुये का भी वर्णन आया है।

जौ के सतुओं को दही में मिलाकर 'करम्भ' नामक पदार्थ बनाया जाता था। दही का उपयोग स्वतन्त्र रूप से भोजन में किया जाता था। दूध और दही दोनों को सोमरस में मिलाकर भी उपयोग में लाया जाता था। दुग्ध मिश्रित सोम 'दग्ध्याशीर' और दधि मिश्रित सोम 'दध्याशरि' कहलाता था। दही को मथकर मट्ठा या छाछ (मन्था) बनाया जाता था जो खाने व पीने के व्यवहार में आता था। भोजन को मधुर बनाने के लिए 'मधु' का प्रयोग किया जाता था। वेदों में 'इक्षु' का भी उल्लेख मिलता है। भेड़, बकरी आदि के यज्ञीय मांस का भी सेवन किया जाता था। गौ 'अघ्न्या' अर्थात् वध के अयोग्य कही गई है। सुरा की निन्दा की गई है क्योंकि इसे पीकर प्रायः लोग दुर्मद हो जाते थे और सभा-समितियों में आपस में लड़ बैठते थे। सुरा के स्थान पर

---

१. आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातायाम गतरसं पूयि पर्युषित च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजन तामसप्रियम्॥
श्रीमद्भगवद्गीता। १७८-१०

सोमवल्ली (अर्थात् सोम की लता) से तैयार होने वाले सोमरस का यज्ञों में विधान किया गया है तथा उसकी बहुत प्रशंसा भी की गई है। इसके अतिरिक्त सोम की मादकता एवं आनन्ददायिनी विशेषता का भी उल्लेख किया गया है।[1] आजकल स्वास्थ्य के लिये आवश्यक समझे जाने वाले विटामिन्स भी इनमें उपयुक्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। प्राचीन काल में भारतीय हरे-हरे शाकों व भोजन के उपरान्त फलों का प्रचुर उपयोग करते थे। इन सबमें विटामिन्स की यथेष्ट मात्रा पाई जाती है। बेर का फल वैदिक आर्यों को विशेष प्रिय जान पड़ता है क्योंकि इसके अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है।

जिस प्रकार भोजन पदार्थ छः रस वाले (मीठे, खट्टे, चरपरे, कड़ुवे, कसैले व नमकीन) होते हैं उसी प्रकार तैयार करने की विधि में भी भोजन छः प्रकार का है। चोष्य—वे पदार्थ जो चूस कर खाये जाते हैं जैसे ऊख, नीबू, अनार आदि; पेय—पीने के पदार्थ जैसे पानी, दूध, शर्बत आदि; लेह्य—चाटने के पदार्थ जैसे लपसी, कढ़ी आदि, भोज्य—भोजन के पदार्थ जैसे भात, दाल, रोटी आदि; भक्ष्य—नाश्ते या जलपान अथवा फलाहार के पदार्थ जैसे लड्डू, पेड़े, बरफी आदि; चर्व्य—चबाकर खाये जाने वाले पदार्थ जैसे लाई, चिवड़ा आदि। ये पदार्थ क्रमशः एक दूसरे से अधिक भारी हैं।

हमारे शरीर का निर्माण पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु इन पांच महाभूतों से हुआ है। इसीलिये हमारे शरीर को ऐसे भोज्य पदार्थों की ही आवश्यकता रहती है जिससे इन पांचों महाभूतों का परिणाम व्यवस्थित बना रहे। छः रसों में मधुर रस में पृथ्वी व जल का भाग अधिक रहता है। खट्टे रस में पृथ्वी व अग्नि का विशेष अंश रहता है, कटुरस में आकाश व वायु का प्राधान्य रहता है। चरपरे रस में अग्नि व वायु तत्व की प्रधानता रहती है। तथा कषैले रस में पृथ्वी व वायु तत्व की विशेषता रहती है। इसी प्रकार से मधुर रस का सेवन करने से मुंह में चिकनापन शरीर में आनन्द व इन्द्रियों में जीते आती है, खट्टे रस के सेवन से मुंह में पानी छूटता, दांत सिहरते व शरीर में रोमाञ्च होता है, नमकीन रस के सेवन से मुंह से पानी गिरता है व गले में जलन होती है, कटुरस से मुंह साफ होता तथा दूसरे रसों की पहचान करने की जीभ की शक्ति नष्ट होती है, चरपरे रस के सेवन से जीभ में जलन और मुंह में चुनचुनी छूटती है तथा मुंह व नाक से पानी छूटता है एवं कषैले रस के सेवन से जीभ भारी पड़ जाती है, कण्ठ व कानों का अवरोध होता है। इन सभी रसों की मल उत्पत्ति जल से हुई है। इसी प्रकार से आयुर्वेद-शास्त्र में

---

१. देखिये ऋग्वेद १।१०६।३; १।१३४।६; ८।२।६; ६।४८।१८; १०।४५।६; १।१८७।६-१०; ८।१०१।१५-१६; ७।८६।६ तथा ८।२।१२; एवं राधाकुमुद मुखर्जी—हिन्दू सभ्यता पृष्ठ ८०-८१।

भोजन के विविध प्रकारों में विटामिन का निर्देश भी अपने ही ढंग से किया गया है।

इसी प्रकार जल की शुद्धि का भी विशेष ध्यान रखा जाता था। साधारणतया नदी, कुएं आदि का जल पीने के काम में लाया जाता था। वर्षाकाल में नदी का जल पीना निषिद्ध कर दिया जाता था। कुएं का जल विशेष रूप से पवित्र माना जाता था, क्योंकि वह पृथ्वी के गर्भ में से आता है। इसी प्रकार शरीर शुद्धि के लिये भी जल का अत्यधिक महत्व माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में खान-पान आदि के विषय में मानव-स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखा जाता था। इन्हीं सब कारणों से प्राचीन भारतीय दीर्घायु होते थे तथा वे ऊंचे व सुन्दर डील-डौल के होते थे।

प्रश्न १५—आर्यों के वस्त्र, परिधान और उनके आभूषणों के विषय में आप जो कुछ जानते हों लिखिये।

उत्तर—वैदिक धर्म परवर्ती साहित्य में आर्यों के वस्त्राभूषण सम्बन्धी उल्लेख पर्याप्त मात्रा में होते हैं। उस समय की वेश-भूषा इस प्रकार की थी कि जिससे स्वास्थ्य की वृद्धि और शारीरिक विकास में पूर्ण सहायता मिलती थी। वैदिक आर्यों के वस्त्र और परिधान ऊनी, सूती और रेशमी होते थे। यज्ञ के पवित्र अवसर पर अजिन और कुश से निर्मित वस्त्रों को धारण करने की प्रथा अवश्य थी, परन्तु वह वैदिक काल का सामान्य परिधान न था। किसी प्राचीन काल के परिधान को बहुमूल्य स्मृति के रूप में विशिष्ट और पवित्र अवसरों पर ही अजिन और कुश से बने वस्त्र का व्यवहार किया जाता था।

अजिन—यह बहुत प्राचीन काल में व्यवहार में लाया जाता था। सम्भवतः पहले अजिन वस्त्र बकरों की खाल का बनता था, पीछे मृगचर्म की प्रथा चली। ऋग्वेद में अजिन-परिधान का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। मरुद्गण मृगाजिन पहने हुये वर्णित किये गये हैं। मुनि लोग भी इस परिधान को प्रयोग में लाते थे। शतपथ ब्राह्मण में अजिन पहनने वाले पुरुषों का भी उल्लेख है।

ऊनी वस्त्र—वैदिक आर्यों के साधारण वस्त्र ऊन (ऊर्णा), रेशम और सूत से बुने जाते थे। सप्त-सिन्धव प्रदेश के शीत-प्रधान भाग में ऊनी वस्त्र और इतर भाग में सूती वस्त्रों को पहनने की प्रथा थी। परुष्णी और सिन्धु नदियों का प्रदेश उस समय ऊन की पैदावार तथा ऊनी शिल्प के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध था। मरुद्गण का वर्णन वरुणी के बने शुद्ध या रंगे हुये ऊनी वस्त्र पहने हुये किया गया है। गान्धार की रोएंदार भेड़ों का ऊन उस समय काफी प्रसिद्ध था।

रेशमी वस्त्र—रेशमी वस्त्रों का व्यवहार वैदिक यज्ञानुष्ठान के अवसरों पर विशेष रूप से किया जाता था। अथर्ववेद में मृतक के शरीर को 'तार्प्य' वस्त्र पहनाने

का आदेश है। शतपथ ब्राह्मण में दीक्षा-ग्रहण करने के अवसर पर 'तार्प्य' वस्त्र के धारण का नियम उल्लिखित है। सायण-भाष्य के अनुसार 'तार्प्य' वस्त्र तृण या 'त्रिपर्य' नामक लताओं के सूत का बना हुआ क्षौम (रेशमी) वस्त्र था। केसरिया रंग से रंगा हुआ रेशमी परिधान (कोसुम्भ परिधान) अत्यन्त पवित्र माना जाता था।

सूती वस्त्र—वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित 'वापस्' (वस्त्र) सूत का बुना कपड़ा होता था इसमें ताने-बाने के रूप में सूत बुने हुये होते थे। वैदिक काल में बुनाई की कला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। उस समय मर्दानी धोतियों के अतिरिक्त बहु-मूल्य जनानी साड़ियां भी तैयार की जाती थीं जिनमें सुन्दर किनारा, झालर और कारचोबी का काम किया रहता था। साड़ियों पर फूल, वेल, बूटे आदि काढ़े जाते थे। सुन्दर युवतियां सुनहरे तार के बने जरी के काम की साड़ियां पहनती थीं। इससे ज्ञात होता है कि यह शिल्प उस समय कितनी अधिक उन्नति कर चुका था। धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर बिल्कुल नए और कोरे वस्त्र पहनने की प्रथा थी, परन्तु नित्य-प्रति के व्यवहार में धुले हुए सफेद वस्त्र धारण किए जाते थे।

परिधान-विधि

प्राचीन भारतीय सामान्यतः दो वस्त्रों का व्यवहार करते थे—अधोवस्त्र जिससे शरीर का अधोभाग ढक जाता था जैसे धोती या साड़ी और अधिवास जिससे शरीर का ऊपरी भाग ढका जाता था जैसे चादर या दुपट्टा। धोती को कमर के पास बांधने की प्रथा थी जिसे 'नीविकरोति' वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था। नीवि साधारणतः आगे की ओर एक ही जगह बांधी जाती थी (जैसा आजकल प्रच-लित है) कभी-कभी उसे दोनों ओर भी बांधा जाता था। स्त्रियां कमर की दाहिनी ओर नीवि बांधती थीं।

शरीर के ऊपरी भाग को दो प्रकार से ढका जाता था, या तो उसे ढीले ढाले लम्बे दुपट्टे (उपवासन, पर्याणहन, अधिवास) आदि से ढका जाता था या दर्जी द्वारा सिले गये कुर्ता या कुरती (प्रतिधि, द्रापि, अत्क) पहनी जाती थी। 'उपवासन' दुल-हिन को एक प्रकार की चादर थी। 'पर्याणहन' भी एक हल्की चादर होती थी जो ओढ़नी के काम में आती थी। 'अधिवास' एक लम्बा, ढीला-ढाला चोगा था जिसे राजा लोग धोती और कुरते के ऊपर पहनते थे। दुलहिन के वस्त्रों के प्रसंग में प्रतिधि का वर्णन आता है। प्रसंगानुसार यह कञ्चुकी (चोली) प्रतीत होती है। 'द्रापि' सम्भवतः आजकल वेस्टकोट की तरह एक सिला हुआ बहुमूल्य कपड़ा था जिसे उच्चवर्ग के स्त्री पुरुष दोनों पहनते थे। इसे सुनहले तारों का बना हुआ बत-लाया गया है। 'अत्क' भी एक प्रकार का सिला हुआ बहुमूल्य कुर्ता होता था जिसे केवल पुरुष पहनते थे। 'पेशस्' भी एक प्रकार का अत्यन्त सुन्दर एवं बहुमूल्य कपड़ा होता था। इस पर सुनहले जरी और कलाबत्तू का काम किया जाता था जिसका सोना चमकता रहता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि दम्पती सुनहले

'पेशस्' को धारण करते थे और सूर्य की किरणों के पड़ने पर नदी का जल जिस प्रकार चमकता है उसी प्रकार पेशस् भी चमकता है। अश्विन् के द्वारा काले और सफेद 'पेशस्' के पहने जाने का उल्लेख मिलता है।

इन वस्त्रों के अतिरिक्त वैदिक आर्य मस्तक पर उष्णीष (पगड़ी) भी धारण किया करते थे। अवसरों की भिन्नता के अनुसार उष्णीष के बांधने के ढंग भी भिन्न होते थे। यह सूत के बने होते थे और सिर पर तिरछे या टेढ़े ढंग से बांधे जाते थे। विशिष्ट अवसरों पर पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियां भी अपने सिर पर उष्णीष बांधा करती थीं। इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी द्वारा उष्णीष धारण करने का वर्णन वेदों में मिलता है।

वैदिक-कालीन आर्य पैरों की सरदी-गरमी से रक्षा करने के लिए पादत्राण भी धारण करते थे। युद्ध के अवसर पर सैनिक पैर से लेकर जांघ तक की रक्षा के लिये एक विशिष्ट प्रकार के पादत्राणों का प्रयोग करते थे। अथर्ववेद में उल्लिखित 'पत्संगिणी' एक प्रकार का पादत्राण ही प्रतीत होती है, जिसका उपयोग सैनिक शत्रु पर आक्रमण या दूर जाने के अवसर पर करते थे। प्राचीन काल में जूते के लिए 'उपानह्' शब्द का प्रयोग किया जाता था। यह शब्द तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। जूते सुअर या हरिण की खाल के बनाये जाते थे। व्रात्यों के जूते काले और नुकीले होते थे।

आभूषण—भारत में प्राचीनकाल में पुरुष और स्त्री दोनों शारीरिक सज्जा की ओर भी विशेष ध्यान देते थे। वस्त्रों के अतिरिक्त आभूषण और रत्न ही इस कार्य के लिये विशेष रूप से उपयुक्त थे। ऋग्वेद में विविध आभूषणों को धारण किये जाने का उल्लेख मिलता है।

'ओपश'—यह पुरुष और स्त्री दोनों के द्वारा पहना जाता था। सायण ने इसको 'स्त्री-व्यंजन' कहा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह अधोमुखी मुकुट के सदृश एक उदग्र त्रिकोणाकार किरीट था ('The projecting triangular crown, like an inverted mukuta') 'कुम्ब' और 'कुरीर'—ये दोनों स्त्रियों के आभूषण थे। इनका अर्थ ठीक ज्ञात नहीं कि क्या था। परन्तु सम्भवतः 'कुम्ब' लटकने वाला कोई कर्णाभरण था। सायण के मत में 'कुरीर' एक प्रकार का शिरोभूषण था जिसे वधू अपने विवाह के समय धारण करती थी। उव्वट ने 'कुरीर' का अर्थ मुकुट तथा महीधर ने शिर को सुशोभित करने वाला सुनहला गहना किया है।

सुवर्ण के बने कर्णभरण को 'कर्णाशोभन' कहा जाता था सबसे अधिक प्रसिद्ध आभूषण 'निष्क ग्रीव' था जो सोने से बनाया जाता था और गले में पहनने के काम आता था। यह आकार में सम्भवतः बर्तुल (गोल) या चतुष्कोण (चौकोर) होता था। 'रुक्म' भी सम्भवतः सोने का आभूषण था जो गले से लटककर छाती को सुशोभित किया करता था। इसे एक डोरे से लटकाया जाता था जिसे 'रुक्मपाश' कहते

थे। 'सृज' एक प्रकार की सुवर्ण की माला थी जिसे प्रायः विवाहादि के अवसर पर सुन्दर दिखाई देने के लिये उत्सुक पुरुष धारण किया करते थे। करधनी स्त्रियों को विशेष रूप से पसन्द थी जिसे सम्भवतः 'न्योचनि' कहा जाता था। स्त्रियाँ हाथों में कड़े और पैरों में खड़ुवे भी पहना करती थीं। मोती और बहुमूल्य रत्नों को भी शरीर पर धारण करने की प्रथा थी। मणि को अलङ्कार के रूप में धारण किया जाता था। 'मणिग्रीव' शब्द से ज्ञात होता है कि मणि गले में पहनी जाती थी।

महाकाव्यों में हमें शिर व कान के आभूषणों, गले के हारों, केयूरों, करधनियों, नूपुरों और मुद्रिकाओं आदि का पर्याप्त वर्णन मिलता है। ठोस सोने के बने हुए भारी आभूषणों का प्रयोग उस समय के स्त्री-पुरुषों में काफी प्रचलित था। महाभारत में विराट-स्त्रियों के चमकते हुये मणिकुण्डलों का उल्लेख मिलता है। इस समय की स्त्रियों के आभूषणों के 'प्रकार-वप्र-कुण्डल' नामक एक विशिष्ट कर्णभूषण था जिसे अज्ञातवास के समय अर्जुन ने स्त्री का वेष धारण करने पर पहना था।

कुषाणकालीन संस्कृति का वर्णन करने वाले 'अङ्गविज्जा' नामक ग्रंथ से उस समय पहने जाने वाले 'आभूषणों' का विस्तृत ज्ञान हमें प्राप्त होता है। उसमें निम्नलिखित आभूषणों का वर्णन है—

सिर पर पहने जाने वाले—अवचूलक, अपलोकणिक (एक आभूषण जो चैत्य के गवाक्ष की तरह का होता था और बालों पर सामने की ओर पहना जाता था); कानों में पहने जाने वाले—तालपत्र (जिसे हिन्दी में 'तरोना' कहते हैं), अवकासक (कर्णलतिका का छिद्र बड़ा करने के लिये लटकने वाला ढोल की तरह का एक आभूषण), कर्णपूरक (झूमके की तरह का एक आभूषण), कर्णोत्पीड़क (भारी कुण्डल), पलिकाम दुधनक (गदा की तरह का एक आभूषण); गर्दन और छाती के लिये—वर्णसूत्र (सोने की माला), त्रिपिशाचक (एक वर्तुलाकार टिकली जो माला में 'पदक' के समान पहनी जाती थी एवं जिस पर परस्पर मिली हुई पिशाचों की तीन मूर्तियां बनी रहती थीं) विद्याधर का (उड़ते हुये विद्याधर दम्पतियों की मूर्तियों से युक्त टिकली), असिमालिका (माला जिसमें टेढ़ी और छोटी तलवारें सी लटकती हैं), कार, अर्धहार पुच्छलक (गाय की पूंछ के सदृश एक छोर पर पतली और नुकीली माला), अष्टमङ्गलकमाला (आठ माङ्गलिक प्रतीकों से युक्त होने के कारण जिसे अमङ्गल का नाश करने वाला माना जाता था जिसे भयंकर यात्राओं पर जाते समय नाविक और सेनानायकों द्वारा पहना जाता था), बाहों के लिये—अङ्गद और तुदिये (दो प्रकार के वलय), हाथों के लिये—हस्तकटक (एक प्रकार का कंगन), रुचक (सोने की टिकलियों या निष्क मुद्राओं का कंगन), सूचिक (हिन्दी में जिसे चूहेदन्ती पहुँचि कहते हैं), अंगुलियों के लिये—अंगुलीयक (अंगूठी), मुद्रेयक (मुद्रांकित अंगूठी), वेन्तक (चक्राकार मुद्रिका), कटि के लिये—काञ्ची-कलापक (अनेकों सूत्रों

वाली करधनी जिसमें लगे घुंघरू चलने पर शब्दायमान होते थे), मेखलिका (पेटी की तरह की करधनी), टांगों के लिये—नूपुर, गण्डुपदक, परिहार्यक, पैरों के लिये—किंकणिक (बजने वाली घंटियां) और पादमुद्रिका उस समय सिर के आभूषणों पर पशु पक्षियों की आकृतियां बनाने की प्रथा थी जिसके कारण से उन्हें गरुड़क (गरुड़ की आकृति से युक्त आभूषण), मगरका (मकरिका की तरह, मगर की मूर्ति से युक्त होने के कारण), ऋषभक (बैलों की आकृति से युक्त), हत्थिक (आनन्दमग्न हो क्रीड़ा करते हुये हाथियों की आकृति से युक्त), चक्रवाक मिथुन का (प्रेम करते हुये चक्रावाक मिथुन की आकृति से युक्त), और सिंहभन्दक (मुख से लटकती हुई मोती की मालाओं से युक्त सिंह के मुख की आकृति से युक्त) नामों से अभिहित किया जाता था।

उस समय विभिन्न अङ्गों के आभूषणों के सौन्दर्य को वृद्धिगत करने के लिये मोतियों की मालाओं के प्रयोग की बड़ी सुन्दर प्रथा प्रचलित थी। मस्तक, भुजाओं, ऊरुओं और पैरों के आभूषणों के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिये क्रमशः शीर्ष-जालक, बाहु-जालक, ऊरु-जालक और पाद-जालक का प्रयोग किया जाता था। मोतियों की माला स्वतन्त्र रूप से भी बहुत अधिक पसन्द की जाती थी जिसका वर्णन साहित्य में एकावली या मुक्तावली के नाम से मिलता है।

प्रश्न १६. आर्यों के गृहनिर्माण एवं घरेलू उपयोग में आने वाली वस्तुओं (Furniture) के विषय में आप क्या जानते हैं ? संक्षेप में उनका वर्णन कीजिये।

उत्तर—वैदिककालीन समाज प्रधानतया ग्राम्य समाज था परन्तु उस समय सम्भवतः इसका अर्थ राज्य की राजधानी से था। राजा लोग अपने राजकर्म में सहायक 'वीरों' या 'रानियों' के उपयुक्त, विशाल गृहों का निर्माण करवाते थे। राजा का अपना एक विशिष्ट महल होता था जिसमें अनेक खम्भे होते थे। ऋग्वेद में राजा वरुण के हजार खम्भों एवं हजार द्वारों वाले विशालकाय महल का उल्लेख है, ऐसे महलों के लिये 'हर्म्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।

साधारणतः लोग गांवों में रहते थे। वैदिक मन्त्रों में घर के अर्थ को सूचित करने वाले गृह, सद्म, प्रसद्म, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं, जो घर की विशिष्टता को लक्ष्य कर प्रयुक्त किये गये हैं। घरों में अनेक कमरे होते थे और आने जाने के लिये द्वार भी बने रहते थे जिनके कारण घर की 'दुरोण' संज्ञा हो गई थी। लोगों के रहने के निमित्त निर्मित गृहों के अतिरिक्त राजाओं के महल, सभा भवन, अध्यापन-कार्य हेतु आचार्यों के परिषद् भवन आदि भी बनाये जाते थे।

घरों के बनाने में मुख्यतः बांस, मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और पकी हुई ईंटों का प्रयोग किया जाता था; कुछ घरों के निर्माण में घास फूस का अधिक उपयोग होता

था, कुछ में लकड़ी का। लकड़ी के मकानों में खम्भों की बहुलता होती थी। मिट्टी के भी घर बनाये जाते थे। पत्थरों और पकी हुई ईंटों के प्रयोग के विशाल एवं विविध आकार वाले मकान भी बनते थे।

वैदिक घरों में आवश्यकतानुसार अलग-अलग कमरे होते थे। इस प्रसंग में हविर्धान, अग्निशाला, पत्नीनां सदन और सदस् इन शब्दों का उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में घरों के चार विभाग हुआ करते थे—

१. अग्निशाला—वह कमरा जिसमें अग्नि जलाई जाती थी तथा विभिन्न अग्नि-कुण्डों में देवताओं के लिये होम किया जाता था।

२. हविर्धान—भण्डारगृह जिसमें घर गृहस्थी के नित्य खर्च तथा यज्ञ की वस्तुयें एकत्र की जाती थीं।

३. पत्नीनां सदन—अन्तःपुर—यह बहुत ही भीतर हुआ करता था जिसमें स्त्रियां स्वच्छन्दतापूर्वक अन्य घर वालों की आंख से ओझल होकर रह सकती थीं।

४. सदस्—बैठने का स्थान; बाहरी दालान में जिसमें पुरुषवृन्द एकत्र होकर सोते-बैठते या बातचीत किया करते थे।

इन कमरों के अतिरिक्त पशुओं के रहने के भी अलग कमरे होते थे जिन्हें 'शाला' या गोत्र कहते थे। उत्सवों तथा यज्ञों में आने वाले अतिथियों और निमन्त्रित व्यक्तियों, विशेषतः ब्राह्मणों के रहने के लिये भी अलग घर होता था जिसे 'आवसथ' कहा जाता था।

ऋग्वेद में 'पुर', 'व्रज' आदि का उल्लेख मिलता है जिसे ज्ञात होता है कि उस समय शत्रुओं से रक्षा हेतु किले भी बनाये जाते थे। किले लोहे व पत्थर के बनते थे। एक ग्राम से दूसरे ग्राम या नगर को जोड़ने के लिये सड़कें इत्यादि भी बनाई जाती थीं।

महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—और बौद्ध साहित्य से उनके समय में गृह-निर्माण-कला में हुई प्रगति का पता चलता है। रामायण में कहा गया है कि अयोध्या के मन्दिर (देवायतन) आकाश के सदृश दैदीप्यमान होते थे। उसके सभा-भवन, उद्यान एवं 'प्रपा' सर्वाधिक सुन्दर थे। प्रत्येक स्थान पर विशाल-भवनों का निर्माण किया गया था। ये गृह रत्नों की खान और सौभाग्य की देवी के निवास स्थान के समान थे। उनके शिखर पर्वतों की चोटियों के समान चमकते थे।

महाभारत में इन्द्र, यम और वरुण के सभी भवनों का वर्णन किया गया है। महाभारत में हमें ज्ञात होता है कि मय दानव ने कृष्ण के कहने पर युधिष्ठिर के लिये एक अद्भुत और अद्वितीय सभा-भवन का निर्माण किया था। राजसूय यज्ञ में आने वाले राजकीय अतिथियों के लिये बनाये गये निवास-गृह कैलास पर्वत के शिखरों के समान अत्यन्त ऊंचे और देखने में सुन्दर थे। वे चारों ओर से भली प्रकार बनाई गई

ऊंचे और सफेद दीवारों से परिवेष्टित थे। गवाक्षों में मणिमण्डिल स्वर्णित जालियां लगी हुई थीं। गृह हंस के समान धवल, चन्द्रमा के समान शुभ्र थे और चार मील दूर से भी अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते थे। उनमें एक सी ऊंचाई के विविध प्रकार के द्वार लगे हुये थे। उन पर अत्यन्त सुन्दर पच्चीकारी की गई थी।

गौतम बुद्ध के समय तक भवन-निर्माण-कला पर्याप्त रूपेण विकसित हो चुकी थी। उस समय के घरों में सोने और रहने के कमरे, विश्रामगृह, भण्डारगृह, भोजन-कक्ष, अग्निगृह, शौचालय, मठ, व्यायामगृह, कुएं, स्नानागार, स्नानागारों से लगे हुये बड़े कमरे और तालाब और खुले हुये क्रीड़ागृह होते थे।

'मानसार शिल्पशास्त्र' की रचना के समय तक हिन्दुओं की भवन-निर्माण-कला अपने चरम विकास को प्राप्त कर चुकी थी। इस ग्रन्थ में सब प्रकार के भवनों की निर्माण-प्रक्रिया, उनके उपादान और सजावट के विषय में वैज्ञानिक रीति से विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें नापने के ढंग, विभिन्न श्रेणियों के स्थपतियों की शिक्षा एवं योग्यताओं, भवन निर्माण हेतु स्थान के चुनाव, भूमि के परीक्षण, भवन की रूपरेखा के तैयार करने, उसके विभिन्न अंगों के पत्थर अनुपात, सज्जा नींव, परि-माण, स्तम्भ और उसके अंगों, मंजिलों, प्राङ्गण एवं बाहर की खुली भूमि, कोष्ठों, द्वारों, गवाक्षों, सीढ़ियों, राज-सभा प्रसार, राजसिंहासन आदि का विस्तृत वर्णन है।

घरेलू सामान—वैदिक गृहों में नित्य प्रति काम आने वाली वस्तुयें सीधी सादी और उपयोगी होती थीं। उन वस्तुओं के विवरण से उस समय के आर्यों की भौतिक दशा का अच्छा परिचय मिलता है। याज्ञिक अनुष्ठान के अवसर पर कुश के बने हुये 'प्रस्तर', 'बर्हि', और 'कूर्च' नामक आसनों का उपयोग किया जाता था। पत्थर से कूटकर तैयार, नरमट (नट) से तथा कट (बेंत) से कशिपु (सेज) का निर्माण किया जाता था। समाज के धनसम्पन्न होने पर बाद में इन चटाइयों में सम्भवतः सोने-चांदी की झालर लगाने की प्रथा चल पड़ी थी।

वैदिक काल में अन्तःपुर में स्त्रियों के लिये अनेक प्रकार के विस्तार और आसन उपयोग में लाये जाते थे। ऋग्वेद में 'तल्प', 'प्रोष्ठ' और 'वह्य' का उल्लेख मिलता है। 'तल्प' एक प्रकार का बहुमूल्य पलंग होता था, जिस पर वर-वधू नव समागम के शुभ अवसर पर सोते बैठते थे। 'प्रोष्ठ' बड़ा ऊंचा काठ का बना बेञ्च प्रतीत होता है। इसके दो पाये होते थे और सम्भवतः इसे दीवाल के सहारे से खड़ा किया जाता था। 'वह्य' स्त्रियोपयोगी सुखद आसन था। 'वह्य' शब्द से प्रतीत होता है कि यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोकर ले जाया जाता था। सम्भवतः इसका रूप आजकल की 'पालकी' या 'डोली' जैसा रहा होगा। यह लकड़ी की बनी होती थी जिस पर नाना प्रकार की सुन्दर आकृतियाँ खोदी जाती थीं और सुनहली कलाबत्तू की चादर बिछाई जाती थी। इस शय्या पर वधू वर के साथ विवाह के अवसर पर सोती थी। इसके अतिरिक्त 'आसन्दी' नाम के आसन का भी उल्लेख

मिलता है। यह अभिषेक आदि विशेष अवसरों पर राजाओं द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली एक गद्दीदार आराम कुर्सी जान पड़ती है। 'पर्यङ्क' 'आसन्दी' का ही ही विस्तृत रूप था जिसे धनवान लोग और शासक वर्ग बैठने और सोने दोनों काम में लाते थे। अथर्ववेद में व्रात्यों की आसान्दी का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके चार पैर होते थे, लम्बे तौर से दो काठ लगाये जाते थे, दो तिरछे ढंग से, लम्बाई एवं चौड़ाई में वह तन्तुओं से बुनी जाती थी। उसके ऊपर एक चादर (आस्तरण) तकिया (उपवर्हण)' गद्दीदार आसन (आसाद) और सहारा लेने की जगह (उपश्रय) होती थी। यह एक प्रकार का राजसिंहासन भी थी।

अनेक प्रकार की घरेलू वस्तुओं को रखने के लिए मिट्टी और धातु से निर्मित 'कलश', लकड़ी से तैयार किए गए 'द्रोण' और चमड़े की बनी 'दृति' का प्रयोग किया जाता था। धनाढ्य आर्य सोने तथा चांदी के बने 'चषको' (प्यालों) का प्रयोग करते थे। यज्ञ के अवसर पर 'हविष्य' पकाने के लिये 'उखा' और सामान्यतः पकाने के लिये 'स्थाली' काम में लाई जाती थी। जांत (दृषत् तथा उपल) से अनाज पीसा जाता था। काठ की ओखली (उलूखल) और मूसल (मूषल) से अनाज या सोमलता को कूटा जाता था। सूर (शूप) और चलनी (तितउ) नाज को भूसी से अलग करने के काम में लाई जाती थी। तैयार नाज को नापने वाला बर्तन 'ऊर्दर' कहलाता था। चीजों को शिक्य (छींके) पर लटका कर रखने की भी प्रथा उस समय थी।

बौद्ध ग्रन्थों में उपर्युक्त वस्तुयें कुछ विकसित रूप में प्राप्त होती हैं। इनके अतिरिक्त उनमें कालीन, कम्बल, तकिये, यवनिका, विभिन्न प्रकार की पलंग की चादरों, गद्दों, मच्छरदानियों, उगालदानियों आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

'मानसार शिल्पशास्त्र' में इन घरेलू उपयोग की वस्तुओं के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन है। उसमें सामान्यतः उपयोग में आने वाली वस्तुओं में दीप दण्ड, व्यजन (पंखा) दर्पण, मञ्जूषा, तुला (तराजू), दोला (पालकी, झूला), नीड़ और पञ्जर (पिंजड़ा) का भी उल्लेख है। विशिष्ट वस्तुओं में देवताओं और राजाओं के लिये भी नौ प्रकार के सिंहासनों—पद्मासन, पद्मकेसर, पद्मबन्ध, पद्मभद्र, श्रीबन्ध, श्रीविशाल, श्रीभद्र, भद्रासन और पादबन्ध—वर्णन मिलता है।

प्रश्न १७. 'पञ्चमहायज्ञ' से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—प्राचीन भारत में प्रत्येक गृहस्थ को पांच महायज्ञ करने अत्यन्त आवश्यक थे। पारिवारिक जीवन के दैनिक कार्यक्रम में इनका महत्वपूर्ण स्थान था। पञ्च महायज्ञ इस प्रकार थे—

१. ब्रह्मयज्ञ
२. पितृयज्ञ
३. देवयज्ञ

४. भूतयज्ञ
५. नृयज्ञ

ब्रह्मयज्ञ—ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य था वेदों का अध्ययन अध्यापन आदि के द्वारा ज्ञान वृद्धि में सतत् प्रयत्नशील रहना जिससे इस संसार की समस्याओं का समाधान अधिक सरलतापूर्वक खोजा जा सके। वैसे तो ज्ञान के उपार्जन का श्रीगणेश ब्रह्मचर्याश्रम से ही हो जाता था किन्तु मौलिकतापूर्ण विचार करने की शक्ति का विकास ब्रह्मचर्याश्रम से निकलने के पश्चात् एवं युवावस्था की परिपक्वता के आने पर ही होता था। इसी समय मानव के अन्तर्चक्षु भी अच्छी तरह से खुल जाते थे। अतः ज्ञानपिपासा की शान्ति का सच्चा अवसर तो ब्रह्मचर्याश्रम से विद्याध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम के स्वच्छन्द वातावरण में ही मिलता था। इस यज्ञ को गृहस्थ के लिये आवश्यक बनाने का एक उद्देश्य और भी था और वह यह कि ब्रह्मचर्याश्रम से निकलने एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लेने के पश्चात् कोई यह न समझ ले कि उसके ज्ञानोपर्जन का अन्त हो गया है जैसा कि प्रायः आजकल समझा जाता है। इस यज्ञ की महत्ता इतनी अधिक थी कि इस यज्ञ को अपनाने के कारण प्राचीन भारत ने जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने वाले कितने ही महान् पुरुषों को जन्म दिया तथा इस यज्ञ को नियमित रूप से करने वाले कितने ही व्यक्ति अपना, अपने देश का, अपनी जाति का व समस्त मानव जाति का कल्याण कर अमरत्व को प्राप्त हो गये।

पितृयज्ञ—पितृयज्ञ का तात्पर्य साधारणतया मृत-पितरों से सम्बद्ध तर्पण कर्म से है। इन मृत-पितरों की तृप्ति अन्नबलि आदि से मानी जाती है। इस यज्ञ के विषय में एक विचारधारा इस प्रकार की है कि इस यज्ञ में ऐसे कर्मों का समावेश किया जा सकता है जिनके करने से परिवार के वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों को पूरा-पूरा सन्तोष प्राप्त हो। यह आवश्यक नहीं है कि वृद्ध उस गृहस्थ के आश्रम में ही रहते हों वानप्रस्थादि आश्रम में रहते हुए भी उन्हें अपनी सन्तान के सुकर्म एवं सुख-दुःख होना स्वाभाविक ही है। अतः इस यज्ञ की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि यदि घर के वयोवृद्ध एवं युवकों में किसी प्रकार की कोई विचार भिन्नता भी हो तो भी उनमें किसी का गृह कलह आदि न हो। इस विचारधारा के अनुसार ऐसी व्यवस्था सम्भवतः इसीलिये की गई थी जिससे यदि कोई युवक ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी कर्त्तव्यों से उन्मुख होना चाहे तो नियम के पाश में जकड़ कर उसे ऐसा करना सम्भव न रह जाय। वास्तव में तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन ऋषियों द्वारा इस यज्ञ की व्यवस्था गृह-कलहों आदि को दूर करने के लिये तथा पारिवारिक जीवन को आनन्द एवं सुख से परिपूर्ण बनाने के लिये की गई थी।

देवयज्ञ—स्मृतिकारों के द्वारा हवन को देवयज्ञ कहा गया है। हवन की महिमा का वैदिक ग्रन्थों में भी बहुत अधिक वर्णन किया गया है। एक स्थान पर कहा गया है, "अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः" अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र नाम का हवन करे। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—

"दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धयुक्त वायु और जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है। घरों में रखे हुये पुष्प, अतर आदि की सुगन्ध में वह सामर्थ्य नहीं है कि दूषित गृह-वायु को निकालकर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है। अग्नि की ही सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर, पवित्र वायु का प्रवेश करा देती है। जिस मनुष्य के शरीर से दुर्गन्ध उत्पन्न होकर वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को जितना दुःख देती है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना ही सुगन्ध या उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये।"[1]

मानव संस्कृति के विकास में अग्नि का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इसमें पवित्रीकरण की तो इतनी अधिक शक्ति है कि गन्दी से गन्दी चीजें भी इसमें पड़कर शुद्ध हो जाती हैं। शायद इसी तथ्य को भली प्रकार समझकर ही प्राचीन ऋषियों ने देवयज्ञ के रूप में वायु शुद्धि को पञ्चमहायज्ञों में सम्मिलित किया था।

भूतयज्ञ—चौथा यज्ञ है भूतयज्ञ जिसके लिये स्मृतिकारों ने 'बलिवैश्वदेव' नाम का भी प्रयोग किया है। मनु जी ने लिखा भी है:

'वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥

अर्थात् विधिपूर्वक गृह्याग्नि में वैश्वदेव के किये जाने पर ब्राह्मण प्रतिदिवस इन देवताओं को होम करे। बलिवैश्वदेव करने की विधि इस प्रकार बताई गई है कि जो कुछ भी भोजन बना हो उसमें से थोड़ा सा लेकर पाकशाला की अग्नि में डालना चाहिये व डालते समय कुछ विशेष मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। इसके पश्चात् लवणान्न अर्थात् शाक, दाल, भात, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि पर रखे तथा कुत्ते, पतित, पापी, श्वपच, रोगी, वायस, कृमि आदि को देवे। इस सम्बन्ध में मनु जी ने भी लिखा है—

"शुनां च पतितानां श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणा च शनकैर्निक्षितेद्भुवि॥"

अर्थात् कुत्ते, पतित, चांडाल, पापरोगी, कौए व कृमि इन सब के लिये धीरे से बलि दे। इस यज्ञ को जीवन का एक आवश्यक अंग बनाने का प्रयोजन सम्भवतया यही प्रतीत होता है कि जो निराधार है या अन्य किसी कारण से उदर-निर्वाह करने में असमर्थ हैं उनकी सहायता की जाय।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४०, ४४।

नृयज्ञ—यह पांचवां यज्ञ है। इसे अतिथि यज्ञ भी कहा जाता था। इस यज्ञ को गृहस्थ के कर्त्तव्यों में सम्मिलित करने का उद्देश्य यही रहा होगा कि प्रत्येक गृहस्थ अतिथि के प्रति अपने उत्तरदायित्व व कर्त्तव्य को समझे। अतिथि भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं होते थे। अतिथि उन्हीं को कहा जाता था जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट रहित तथा नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य हों। जब कोई ऐसा अतिथि घर पर आये, तो गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके उसे उत्तम आसन पर बैठावे, पश्चात् पूछे कि आपको जल या अन्न वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न कर स्वयं स्वस्थ-चित्त होकर, उसकी हर तरह से आवभगत करे, जिससे कि वह अतिथि पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाय।

इन पांच महायज्ञों का सम्पादन प्राचीन पारिवारिक जीवन का एक विशेष अंग था। इसी से वास्तविक रूप में सच्चा आनन्द प्राप्त होता था। मनु ने इन यज्ञों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैन लिप्यते ।।"

अर्थात् इन पांच यज्ञों को जो यथाशक्ति करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी सूना दोष (जीवहत्या के पाप से) लिप्त नहीं होता। तथा—

"देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानमुच्छ्वसन्न स जीवित ।।"

देवता, अतिथि, भृत्य, पितर व अपने आपका जो निर्वपन नहीं करता, वह श्वास लेते हुए भी जीवित नहीं है।

इस प्रकार पारिवारिक जीवन में इन पांच महायज्ञों की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

३

- प्राचीन भारत में प्रचलित शिक्षा प्रणाली
- प्राचीन भारत के विश्वविद्यालय
- प्राचीन भारत में विद्यार्थियों का दैनिक जीवन
- लेखन-कला का उद्भव एवं विकास

प्रश्न १८. प्राचीन भारत में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का वर्णन कीजिये।

उत्तर—प्राचीन ऋषियों का विचार था कि यदि मृत्यु के रहस्य को भली-भाँति समझ लिया जाय तो इस संसार के अनेक दुःखों का अन्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त ये ऋषिगण स्वयं भी आत्मा व परमात्मा के सम्बन्ध तथा जीवन मरण की जटिल समस्याएं समझने में ही अपना जीवन बिता देते थे। इस प्रकार के विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये योग्य व्यक्तियों की ही आवश्यकता होती थी। इस प्रकार की योग्यता को प्राप्त कराने के लिये ही प्राचीन शिक्षा-प्रणाली विकसित की गई थी। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य की ईश्वर-प्रदत्त समस्त शक्तियों का विकास कर उसे सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाना था, जिससे वह जीवन की पहेलियों को सुलझाने में समर्थ हो सके।

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम का विशेष सम्बन्ध शिक्षा-प्रणाली से है। अथर्ववेद में लिखा गया है कि ब्रह्मचर्य व तप से देवता लोग मृत्यु को भी मार डालते हैं।[1] इसीलिये प्रत्येक प्राचीन भारतीय इसी उद्देश्य को लेकर जीवन के पथ में अग्रसर होता था कि वह ब्रह्मचर्य व तप को प्राप्त कर उनकी सहायता से मृत्यु का हनन कर अमरत्व को प्राप्त होवे। इसी में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का रहस्य छिपा हुआ है। प्राचीन भारत में जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इस वर्गचतुष्टय की व्यवस्था की गई थी उसको सिद्ध करने की शिक्षा भी ब्रह्मचर्या-श्रम में ही दी जाती थी। इसी आश्रम में ईश्वर-प्रदत्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि शक्तियों के विकास का भी श्री गणेश होता था। 'ब्रह्मचारी' अथवा 'ब्रह्मचर्य' शब्द का तात्पर्य ही किसी ऐसे व्यक्ति या जीवन से जिसमें 'ब्रह्म' अर्थात् सत्य को खोजने व समझने की धुन सी लगी हो।

प्राचीन भारत में प्रत्येक बालक के मन पर यह भी अंकित कर दिया जाता था कि दुनियां में आते ही उस पर पिता का ऋण, ऋषि का ऋण व देवताओं का ऋण लद गया है तथा उसे इन तीनों ऋणों को चुकाने का अपने जीवन में भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इन तीनों ऋणों को चुकाने की सामर्थ्य ब्रह्मचर्याश्रम में ही प्राप्त की जाती थी।

प्राचीन काल में बालक को सात या आठ वर्ष की अवस्था में ही ब्रह्मचर्या-श्रम में प्रवेश करा दिया जाता था। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व प्रत्येक बालक का उपनयन संस्कार होता था जिसमें उसे गुरु से इस आश्रम की दीक्षा मिलती थी। इसी अवसर पर उसे यज्ञोपवीत धारण करने का भी अधिकार मिलता

---

१. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो हि ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ —अथर्ववेद ११।५।१९

था। इसके पश्चात् उसे गुरु के आश्रम अर्थात् गुरुकुल में रहकर ही विद्याध्ययन करना पड़ता था। गुरुकुल में गुरु व शिष्यों के मध्य आत्मीयता के सम्बन्ध का अच्छा विकास होता था। गुरुकुल में ऊंच-नीच का भेद-भाव तनिक भी नहीं था। यहां एक राजा का पुत्र तथा गरीब ब्राह्मण का पुत्र दोनों ही बराबर थे। यहाँ सम्राट का पुत्र अपने राजसी वैभव को भुला देता था तथा रङ्क का लड़का अपने ऐहिक अकिञ्चनत्व को भूलकर ईश्वर प्रदत्त सम्पत्ति को पहचान कर अपने अस्तित्व को जानता था। ये गुरुकुल प्रायः जंगल में किसी नदी के किनारे या छोटे से गांव के निकट रहते थे। क्योंकि वहां परमात्मा की कृति अर्थात् प्रकृति के वैभव का साक्षात्कार सरलता से किया जा सकता था। यहां का वातावरण शुद्ध एवं स्वास्थ्यप्रद रहता था। इस प्रकार के शुद्ध वातावरण में रहकर ही विद्यार्थी अपना विद्याध्ययन करते थे। इसके अतिरिक्त सेवा-वृत्ति भी गुरुकुल की एक बहुत बड़ी विशेषता थी। यहां रहकर विद्यार्थी को अपने सब काम अपने ही हाथों करने पड़ते थे जिससे उसमें स्वयंसेवक की भावना का भी अच्छा विकास होता था। इसके अतिरिक्त उसे अपने ही हाथों से गुरु की सेवा करनी पड़ती थी तथा आस-पास के गांवों में जाकर भिक्षा मांगकर लानी पड़ती थी। उसे यज्ञ एवं हवन आदि के लिये जंगल से समिधायें लानी पड़ती थीं। गुरुकुल में रहते हुये उसे अपना सारा जीवन सादा रखना पड़ता था तथा प्रत्येक प्रकार की भड़कीली वेश-भूषा, तैल-मर्दन आदि शृङ्गार की सामग्री से सर्वथा दूर रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ब्रह्मचारी को तपस्वियों के समान ही वल्कल, मेखला आदि धारण करनी पड़ती थी।

प्राचीन काल में इन गुरुकुलों में ही विविध विद्याओं का अध्यापन होता था। छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर नारद जी ने उत्तर दिया है—

"ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणं चतुर्थ-मितिहासपुराण पञ्चम वेदानां वेद पित्र्यं राशि दैवं निधिं वाकोवाक्यमकायन देवविद्याँ ब्रह्मविद्यां भूतविद्याँ क्षत्रविद्याँ नक्षत्रविद्याँ सपदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।"[1]

अर्थात् हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (वेदों के अर्थ-विधायक व्याकरण-निरुक्तादि), पितरसम्बन्धी विद्या जैसे (Anthropology), राशिविद्या (गणितविद्या), देवविद्या (उत्पातविद्या, जैसे भूकम्प, जलप्लावनों आदि की विद्या, (Physical Geography), निधिविद्या, खान की विद्या अथवा (Minerology), वाकोवाक्यविद्या (तर्कशास्त्र), एकायनविद्या, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या (ऐसी विद्यायें जिनमें देव या ब्रह्म की व्याख्या हो), भूतविद्या (प्राणिशास्त्र अथवा Zoology, Anatomy आदि), क्षत्रविद्या (धनुर्विद्या तथा राज-

१. छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२

शासन विद्या अथवा अंग्रेजी में Military Science and Art of Government, नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) तथा सर्पदेवजन विद्याओं का अध्ययन किया है। सर्पदेवजन विद्या का तात्पर्य सम्भवतया सर्पों के विष को दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का वर्णन है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में भी भारत में अनेक विद्याओं का अध्ययन अध्यापन होता था। साधारणतया ब्रह्मचर्याश्रम एक प्रकार से अनिवार्य शिक्षाक्रम का उसी प्रकार का एक उदाहरण था जैसे कि आजकल भी अनेक स्थानों पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा है। ब्रह्मचर्याश्रम का ग्रहण करना सबके लिये आवश्यक था इसके पश्चात् जो जिस काम को करना चाहे उसका ज्ञान प्राप्त करता था। राजकुमार राजधर्म एवं धनुर्विद्या आदि का ज्ञान प्राप्त करता था। तथा वैश्य या शिल्पकार का पुत्र अपने-अपने धन्धे की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करता था।

प्राचीन काल में ब्रह्मचारी को प्रतिदिन प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में (लगभग साढ़े चार या पाँच बजे) उठना पड़ता था। इसके पश्चात् वह अपने नित्यकर्मों से निवृत्त होता—शौच, दन्तधावन और स्नान करता था। तब वह सन्ध्योपासन, हवन आदि की क्रियायें करता। अधिकांश विद्यार्थी सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि के पश्चात् या तो अपना नवीन पाठ पढ़ते थे या अपने पुराने पाठ का अभ्यास करते थे। ११ बजे के लगभग वे भोजन करते थे। कहीं कहीं तो उनके भोजन का प्रबन्ध आश्रमों में ही होता था किन्तु अधिकांशतः उन्हें अपना भोजन भिक्षा द्वारा ही प्राप्त करना होता था। भोजनोपरान्त विद्यार्थियों के लिये कुछ समय विश्राम के लिए नियत था। तत्पश्चात् २ बजे के लगभग शिक्षण का कार्य प्रारम्भ होता था जो प्रायः सायंकाल तक चलता था। सन्ध्या समय से पूर्व विद्यार्थी जंगल से समिधा आदि लाते थे। अधिकतर विद्यार्थी इस समय शारीरिक श्रम (व्यायाम आदि) भी करते थे। सूर्यास्त होते-होते वे सन्ध्या, हवन आदि करते तथा इसके पश्चात् सायंकाल का भोजन करते थे।

इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा के लिये देश में अनेक विश्वविद्यालय भी खुले हुये थे जिसमें सब प्रकार की उच्च शिक्षाओं का प्रबन्ध था। इन विश्वविद्यालयों में दूर-दूर के देशों से आकर विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। इतिहास में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला आदि स्थानों पर विश्वविद्यालय होने का स्पष्ट संकेत मिलता है। देश के अन्य स्थानों में भी अवश्य ही इस प्रकार के अन्य अनेक विश्वविद्यालय रहे होंगे जो आज सर्वथा विस्मृति के गर्त में विलुप्त हो गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था अतीव उन्नत एवं मनुष्य के चरम पुरुषार्थ की साधिका थी। उस समय का गुरुकुल से निकलने वाला विद्यार्थी आजकल के विश्वविद्यालयों से उच्च शिक्षा प्राप्त कर निकले हुये विद्यार्थी की भांति निराशा अथवा कायरता से परिपूर्ण होकर नहीं निकलता था। ब्रह्मचर्याश्रम से निकलते समय विद्यार्थी के हृदय में नव-जीवन, नव-आकांक्षायें, नव-

स्फूर्ति आदि का समुद्र हिलोरें मारता था। जीवन-यापन उसके लिये इतना कठि नहीं था जितना आजकल है।

प्रश्न १९. प्राचीन भारत के विश्वविद्यालयों के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—प्राचीनकाल में समाज के बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लि स्थान-स्थान पर गुरुकुल बने थे। इस प्रकार के गुरुकुलों का उल्लेख वेद-पुरा रामायण, महाभारत आदि में अनेक बार आया है। बौद्ध काल तक आते-आते इन गुरुकुलों का इतना अधिक विकास हुआ था कि इनमें से कुछ ने तो विश्वविद्य लयों का ही रूप धारण कर लिया था। इन विश्वविद्यालयों के विषय में इतिहास बहुत कुछ ज्ञात होता है। इस प्रकार के विश्वविद्यालय तक्षशिला, नालन्दा, विक्र शिला आदि स्थानों पर स्थित थे।

तक्षशिला में एक विश्वविद्यालय ६०० ई० पूर्व से ही विद्यमान था। विश्वविद्यालय ब्राह्मण शिक्षा का महान केन्द्र था। यह नगर भारत के पश्चिमोत्त में स्थिति गान्धार देश की राजधानी था। यहां सब जातियों एवं सब स्थानों विद्यार्थी नाना प्रकार की विद्यायें अध्ययन करने आते थे। यहां वेदों का अध्या होता था तथा अष्टादश विद्याओं एवं विभिन्न शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। य पर भिन्न-भिन्न विद्याओं के भिन्न-भिन्न विभाग थे तथा प्रत्येक विभाग के अल अलग आचार्य होते थे। इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि इसी विश्वविद्यालय महान् वैयाकरण पाणिनि, सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक तथा अनेक अन्य महापुरुषों ने शि प्राप्त की थी। चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ और भृत्य कौमरजीत जैसे शल्य चिकित्स यहीं अध्यापक थे। यहां एक आचार्य आत्रेय थे जो अपने वैद्यकशास्त्र के ज्ञान के लि प्रसिद्ध थे। इन्हीं आचार्य के चरणों में बैठकर गौतमबुद्ध के वैद्य जीवक ने सात व तक वैद्यक की शिक्षा ग्रहण की थी। इस प्रकार का उल्लेख भी मिलता है कि परी के समय जीवक से पूछा गया था कि तक्षशिला से पन्द्रह मील के घेरे में जितने व स्पति, वृक्ष, लता, घास, जड़ें आदि हैं उनका वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से क्या उपयो हो सकता है? इस पर जीवक चार दिनों तक इधर-उधर घूमा था तथा उसने लौ कर अपने आचार्य को बताया था कि ऐसी एक भी वनस्पति नहीं जिसका वैद्यक-शास्त्र की दृष्टि से कोई न कोई उपयोग न हो। इसी प्रकार अन्य अनेकों बातें इस विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में बौद्ध-जातकों से ज्ञात होती हैं।

इसी विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम भारतीयों व यूनानियों का संसर्ग हुआ और यहीं पर उन्होंने एक दूसरे के सिद्धान्तों को ग्रहण किया था। मिश्र व बेबिलो से इस विश्वविद्यालय का यूनान से पूर्व सम्बन्ध था। बेबिलोनिया के निवासी हमे स्थल-मार्ग से भारत आया करते थे। भारत के लिये स्थल-मार्ग पश्चिमोत्तर से था और विश्वविद्यालय भी भारत के पश्चिमोत्तर में ही स्थित था, अतः देश बाहर से स्थल-मार्ग से आने वाले विद्यापिपासुओं के लिये वही विश्वविद्यालय स

प्रथम मार्ग में आता था। एरियन, स्ट्रोबो, टोलेमी, डायोनिसियस, प्लिनी, फाईयान्, ह्वेनसांग व अन्य विदेशी यात्रियों ने विश्वविद्यालय का उल्लेख एक महत्वपूर्ण विद्या केन्द्र के रूप में किया है। छठी शताब्दी ई० तक यह विश्वविद्यालय उन्नतिशील रहा। इसके बाद हूण आक्रमणकारियों ने इसको नष्ट कर दिया।

नालन्दा में एक बौद्ध विश्वविद्यालय था। नालन्दा बिहार प्रदेश में आधुनिक गुरगांव नामक स्थान पर था। यह विश्वविद्यालय भी सब जातियों के एवं सब धर्मों के मानने वालों तथा सब स्थानों से आने वाले व्यक्तियों के लिये खुला था। वहां चीन, तिब्बत, मध्य एशिया, बुखारा, कोरिया आदि अनेक देशों से आकर विद्यार्थी विद्योपार्जन करते थे। प्रारम्भ में नालन्दा एक साधारण गांव ही था। ई० सं० ३८० में प्रसिद्ध पण्डित नागार्जुन ने तथा ई० सं० ३२० में आर्यदेव ने सर्वप्रथम इसके महत्व को बढ़ाया। चीनी यात्री फाईयान्, जो यहां चौथी शताब्दी में आया था, के उल्लेखों से पता चला है कि उस समय तक यह विश्वविद्यालय पूर्ण नहीं हुआ था। सातवीं शताब्दी में जिस समय ह्वेनसाँग व इत्सिग यहां आये थे उस समय तक यह विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा का एक महान् केन्द्र बन चुका था। उन्होंने यहां आने पर बड़े-बड़े आचार्यों के श्रीचरणों में बैठकर संस्कृत एवं बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था। शीलभद्र नाम के आचार्य ने पन्द्रह मास तक ह्वेनसांग को संस्कृत पढ़ाई थी। इसी विश्वविद्यालय से बहुत से धर्म प्रचारक तिब्बत व चीन गये थे। उन्होंने अपनी विद्वता, पवित्र जीवन व चीनी भाषा में बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अनुवाद करने के कारण खूब नाम कमाया। इन प्रचारकों ने चीनादि देशों में बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार किया। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामति, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, शीलभद्र आदि यहां के विभिन्न विषयों के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। यहां सर्वोपरि आचार्य कुलपति कहलाता था। दस हजार के लगभग विद्यार्थी यहां अध्ययन करते थे।

इत्सिग दस वर्ष तक नालन्दा में रहा था। उस समय यहाँ के छात्रावास में लगभग तीन हजार विद्यार्थी रहते थे। विश्वविद्यालय को विभिन्न राजाओं द्वारा लगभग २०० गांव दिये गये थे जिनकी आय से इस विश्वविद्यालय का खर्च चलता था। इस विश्वविद्यालय में तीन विशाल पुस्तकालय थे—'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' व 'रत्नरञ्जक'। रत्नोदधि नौ मंजिला भवन था तथा इसमें धार्मिक एवं तान्त्रिक ग्रन्थ रखे रहते थे। मध्यवर्ती स्थान में प्रमुख विद्यालय था जिसके चारों ओर आठ हाल थे। मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस विश्वविद्यालय को बड़ी निष्ठुरता से लूटा और मिट्टी में मिला दिया।

भारत का तीसरा विश्वविद्यालय विक्रमशिला नामक स्थान पर था। तिब्बती बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर बिहार में वर्तमान भागलपुर जिले के सुल्तानगंज को 'विक्रमशिला' माना गया है। इस विश्वविद्यालय के चारों ओर चार तोरण थे। प्रत्येक प्रवेशद्वार पर एक-एक प्रवेशिका परीक्षागृह था। इन सभी द्वारों पर एक-

एक दिग्गज विद्वान थे । जो प्रवेशार्थी के अध्ययन के लिये आते थे उन्हें पहले द्वारों पर स्थिति पण्डितों को परीक्षा में संतुष्ट करना पड़ता था । अध्यापन-विद्या रत्नवज्र, लीलावज्र, कृष्णसमखज्र तथा गतरक्षित, दर्पकर, श्रीज्ञान, बोधि कमलरक्षित और नरेन्द्र श्रीज्ञान—ये आठ महापण्डित और इनके अतिरिक्त १ पण्डित थे । दीर्पकर श्रीज्ञान यहां के आचार्य थे । इस विश्वविद्यालय में साहि धर्म, दर्शन आदि के अतिरिक्त विशेष रूप से तन्त्रशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी । पर भी भारतीय छात्रों के अतिरिक्त विदेशी छात्र भी अध्ययन हेतु आते थे । छा के निवास और भोजनादि का प्रबन्ध विश्वविद्यालय की ओर से होता था । ११ ई० में पालवंशी राजाओं के अधःपतन के साथ यह विश्वविद्यालय ही समाप्त गया । विजय मदान्ध मुसलमानों ने मुहम्मद-बिन-अख्तियार के नेतृत्व में गोविन्द को मार कर नालन्दा और विक्रमशिला को खूब लूटा ।

उपर्युक्त वर्णनों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्थानों पर भी विश्वविद्यालय का उल्लेख इतिहास में प्राप्त होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल भी भारत में शिक्षा का अत्यधिक विकास हुआ था ।

प्रश्न २९. प्राचीन भारत में विद्यार्थियों के दैनिक जीवन की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—विद्यार्थियों के लिये अनेक नियमों का उल्लेख मनु जी ने अप मनुस्मृति में किया है । इन नियमों में प्राचीन काल में विद्यार्थियों की दिनचर्या कि प्रकार चलती थी, इस पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

यह तो सुविदित ही है कि प्राचीन काल में अधिकांश विद्यार्थी गुरुकुल रहकर ही विद्याध्ययन करते थे । विद्यार्थियों को प्रातः ब्रह्ममुहूर्त (अर्थात् साढ़े च बजे या पांज बजे प्रातः) उठना पड़ता था । उसी समय वे शौच, दन्ताधावन, स्ना आदि सभी नित्य-कर्मों से निवृत्त हो जाते थे । इसके पश्चात् उन्हें सन्ध्योपासन कर होता था तथा अग्निहोत्र (हवन) आदि भी करने पड़ते थे । वेद का अध्ययन कर वाले अधिकतर विद्यार्थियों को अपना प्रातःकाल का अधिकतर समय याज्ञिक क्रि कलापों में व्यतीत करना पड़ता था । इससे दो लाभ होते थे—एक ओर तो जहां यज्ञों के स्वयं सम्पादन के द्वारा उनमें दक्षता प्राप्त करते थे, वहां दूसरी ओर आगे आ वाले जीवन में यज्ञों को भली-भांति पूर्ण कर सकने की योग्यता भी प्राप्त करते थे दूसरे विद्यार्थी जो वेद का अध्ययन नहीं करते थे वे सन्ध्या, अग्निहोत्र के पश्चात् तो अपना नवीन पाठ पढ़ते थे या पहले पढ़े हुये पाठ का ही अभ्यास करते थे । कु विद्यार्थी इस समय वन से समिधाएं, पुष्प आदि लाने अथवा नगर से भिक्षा लाने लिये भी जाते थे ।

विद्यार्थियों के भोजन का समय प्रातः दोपहर के प्रारम्भ में (आजकल ल मग ११ बजे) होता था । कुछ आश्रमों के व्यय के लिये अनेक राजा गांव आदि दा

देते थे। इस प्रकार के आश्रमों में विद्यार्थी आश्रम से ही भोजन पाते थे। इसके अतिरिक्त अन्य आश्रमों में जहाँ इस प्रकार का प्रबन्ध नहीं होता था, विद्यार्थियों को भिक्षा द्वारा अपने भोजन की व्यवस्था आप करनी पड़ती थी। भोजन करने के पश्चात् कुछ समय विद्यार्थियों के विश्राम के लिये नियत था। विश्राम के समय में सम्भवतः विद्यार्थियों को खुली छूट थी और वे इसका मनचाहे ढंग से उपयोग करने के लिये स्वतन्त्र थे।

इसके पश्चात् दोपहर ढलते-ढलते (अर्थात् आजकल के लगभग २ बजे) अध्ययन-अध्यापन का काम प्रारम्भ होता था तथा यह क्रम सायंकाल तक चलता था। अध्ययन एवं अध्यापन का प्रमुख समय यही था। अन्य समयों में विद्यार्थी भले ही गुरु के सामने न आयें और भले ही अपने कुछ कर्त्तव्य की अवहेलना कर जायें किन्तु इस समय तो शिष्य और गुरु का साक्षात् सम्बन्ध होना आवश्यक था। वास्तव में यही वह महत्वपूर्ण समय था जिसके लिये इस ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गई थी। इस समय सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं का अध्यापन सम्पन्न होता था।

सन्ध्या-काल से कुछ पूर्व ही कुछ विद्यार्थी समिधाएं आदि लेने जंगल को चले जाते थे। कुछ विद्यार्थी इस समय शारीरिक श्रम के कार्य करते थे अथवा कुछ खेल आदि खेलते थे। सूर्यास्त होते-होते प्रत्येक विद्यार्थी सन्ध्या एवं हवन आदि करता था। सूर्योदय एवं सूर्यास्त दोनों समय ही सन्ध्या एवं हवन आदि का करना प्राचीन भारत में जीवन के अनिवार्य अंग माने जाते थे। सन्ध्या हवनादि के पश्चात् विद्यार्थियों के सायंकालीन भोजन का समय होता था। इस समय भी भोजन की व्यवस्था दोपहर के भोजन के समान ही या तो आश्रम की ओर से होती थी या विद्यार्थी को स्वयं भिक्षा के द्वारा करनी पड़ती थी। इसके पश्चात् कुछ देर वार्तालाप करने के पश्चात् ही विद्यार्थी सो जाते थे।

जो विद्यार्थी दिन में अपने जीवन-निर्वाह के किसी कार्य में व्यस्त रहते थे तथा इस कारण दिन में शिक्षाध्ययन नहीं कर पाते थे, वे रात्रि में अध्ययन करते थे। ऐसे विद्यार्थियों के लिये रात्रि में भी अध्यापन की सुविधाओं की व्यवस्था उसी प्रकार से की गई थी जिस प्रकार से आजकल भी बड़े-बड़े शहरों में दिन में कार्यालयों आदि में कार्य करने वालों के लिये सायंकालीन कक्षायें (Evening Classes) की व्यवस्था होती है। उस समय कागज, पेन्सिल आदि का तो सर्वथा अभाव था इसलिये विद्यार्थियों को गृह-कार्य प्रायः नहीं दिया जाता था। यहां पर भी ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि उस समय कागज, पेन्सिल आदि आधुनिक लेखन-सामग्री का आविष्कार न हो पाया था तथापि तत्कालीन भारतीयों ने मयूरपंख आदि की लेखनी से भोज-पत्रों पर लिखने की कला में अच्छी निपुणता प्राप्त कर ली थी। फिर भी गृह-कार्य के रूप में विद्यार्थी गुरु से पढ़े हुए पाठ पर मनन करते थे अथवा उसे याद

करते थे। इसके अतिरिक्त वे परस्पर वार्तालाप के द्वारा भी अपनी अपनी ज्ञानवृद्धि करते थे। कभी-कभी विद्यार्थियों में आपस में शास्त्रार्थ की भी होड़ हो जाती थी। यह सब कुछ होते हुये भी विद्यार्थी का अधिकांश समय गुरु के सन्निध्य में ही व्यतीत होता था तथा गुरुकुल में रहते हुए विद्यार्थी को अपने सभी कार्यों के लिए गुरु से अनुमति प्राप्त करनी होती थी। गुरु की सेवाशुश्रूषा करना भी विद्यार्थी की दिनचर्या का एक आवश्यक अङ्ग था। गुरु की सेवा करने से विद्यार्थी में अभिमान का उदय नहीं हो पाता था क्योंकि उसको सदैव अपने आपको गुरु से नीचा तथा उसके नियन्त्र में ही समझना पड़ता था। उपनिषदों में विद्यार्थियों की गोचारण आदि सेवाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गोचारण का कार्य विद्यार्थियों से उन्हीं आश्रमों में लिया जाता होगा जिन आश्रमों में प्रचुर मात्रा में गौएं होती होंगी। अन्य आश्रमों में विद्यार्थियों से इस प्रकार का कार्य लेने की आवश्यकता न पड़ती होगी। विद्यार्थी को अपनी छात्रावस्था की अवधि में इन्द्रिय-निग्रह का व्रत भी बड़ी दृढ़ता से पालन करना पड़ता था। जो विद्यार्थी अपने कर्त्तव्य में किसी प्रकार का प्रमाद करते होंगे उनके लिए कुछ न कुछ दण्ड की भी अवश्य व्यवस्था होगी। दण्ड किस रूप में दिया जाता होगा इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। सम्भवतया उस समय में अपने कर्त्तव्य-पालन में प्रमाद करने वाले विद्यार्थियों की संख्या अति न्यून होती होगी और इसलिए किसी प्रकार के दण्ड आदि का उल्लेख नहीं मिलता है। उस समय गुरु के अनुशासन में प्रारम्भ से ही रहते-रहते विद्यार्थी अनुशासनमय जीवन के इतने अभ्यस्त हो जाते थे कि उनके किसी प्रकार के उच्छृंखल होने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय विद्यार्थी का प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक का समय अनेक धार्मिक विधि-विधानों से पूर्ण होते हुये भी गुरु-सेवा एवं अध्ययन में बीतता था। वास्तव में उस समय शिक्षा प्रणाली का विकास करते समय विद्यार्थियों के शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था। जंगल में रहने तथा विभिन्न नियमों का पालन करने से विद्यार्थियों का शारीरिक विकास होता था। वेदादि के अध्ययन व अन्य विद्याओं के ज्ञान से इनके मन व बुद्धि का विकास होता था तथा आचार्य के सच्चरित्र व पवित्र जीवन द्वारा उन्हें आत्मिक विकास के लिये प्रेरणा प्राप्त होती थी।

प्रश्न २१. भारत में लेखन कला के उद्भव तथा विकास पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—भारत में लेखन-कला अथवा लिपि का उद्भव कब और कैसे हुआ, इस विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भारत में प्राचीन काल में ब्राह्मी, खरोष्टी तथा सिन्धु-घाटी की लिपियों के अस्तित्व का पता चला है। सिन्धु-घाटी की लिपि का पता तो सन् १९२२ से १९२७ तक होने वाली मोहनजोदड़ों एवं हड़प्पा की खुदाई से लगा; किन्तु ब्राह्मी तथा खरोष्ठी का पता विद्वानों को पहले से था। ब्राह्मी-लिपि में केवल ५४० ई० पूर्व तक के ही प्राचीनतम लेख मिले हैं। इसके पूर्वकाल में

ब्राह्मी-लिपि की क्या स्थिति थी, इसका उद्भव कैसे हुआ तथा इसका विकास कैसे हुआ इन सबके सम्बन्ध में विद्वानों ने विविध अनुमान किये हैं ।

ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति विचार करते समय दो बाधायें अनायास ही सामने आ जाती हैं । प्रथम तो कुछ प्राचीनतावादी भारतीयों की यह धारणा कि लिपि अनादि है, वह ब्रह्मा की बनाई है और सृष्टि के आरम्भ से ज्यों की त्यों चली आ रही है । इसका सबसे बड़ा प्रमाण वे यह प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्मा के द्वारा स्वयं बनाई हुई होने के कारण ही इसका नाम भी ब्राह्मी ही है । दूसरी यह मनोवृत्ति कि भारतवर्ष की सभ्यता न तो अधिक प्राचीन है और न मौलिक ही । भारतीय लिपियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी अधिकतर विदेशी विद्वानों का मत यही रहा है कि भारत में लिपि की उत्पत्ति अधिक प्राचीन नहीं है ।

इससे पूर्व कि हम विदेशी विद्वानों के मतों का उल्लेख करें तथा उनकी समीक्षा करें, यह अधिक समीचीन मालूम होता है कि हम देखें कि आखिर लिपि का उद्भव हुआ कैसे होगा । इतना तो निश्चित है कि लेखन कला अथवा लिपि का जन्म भाषा के प्रादुर्भाव के बाद ही हुआ है । सम्भवतः आरम्भ में किसी व्यक्ति ने किसी बात के स्मरण के लिये कोई चिन्ह खींच दिया होगा । इसे उपयोगी पाकर पुनः प्रयोग किया गया होगा तथा इसकी देखा-देखी ही अन्य लोगों में भी इसका प्रचलन हुआ होगा । फिर धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार ही इसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हुआ होगा तथा शनैः शनैः उसे आज जैसा विकसित रूप प्राप्त हो पाया है । यहां पर एक यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि प्रारम्भ में लिपि का ध्वनि से सामंजस्य काफी आगे चलकर ही हुआ है । प्रारम्भ में वाक्यों को प्रकट करने वाले संकेतों का प्रयोग होता था; इसके पश्चात् संकेत शब्दों के लिए प्रयुक्त हुये तथा सबसे अन्त में अक्षरों के लिये ।

ब्राह्मी-लिपि का उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

१. **ग्रीक-भाषा से उत्पत्ति का सिद्धान्त**—प्रो० मूलर, जेम्स प्रिसेप, सेनार्ट, जोसेफ हालवे और विलसन आदि विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति ग्रीक-भाषा से मानी थी किन्तु अब मूलर आदि विद्वानों ने अनेक सबल प्रमाणों के आधार पर इस तर्क का पूर्णतया खण्डन कर दिया है ।

२. **सामी (सेमेटिक) भाषा से उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के मानने वाले बहुत अधिक हैं किन्तु सामी की किस शाखा से ब्राह्मी की उत्पत्ति हुई, इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं । इन विद्वानों के विचार संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(अ) **फोनेशीये उत्पत्ति**—वेवर तथा वेन्फे जेन्सेन आदि विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति उत्तरी सेमाइट लिपि (फोनेशीय-लिपि) से हुई है । उनका सबसे सबल प्रमाण है कि लगभग एक तिहाई फोनेशीय वर्णों की समानता उसी ध्वनि के प्राचीनतम ब्राह्मी प्रतीकों से मिलती है । इसके अतिरिक्त एक तिहाई ब्राह्मी और

फोनेशीय वर्णों में समानता है। इसी प्रकार अविष्ट एक तिहाई वर्णों में समानता खींचतान कर सिद्ध कर दी गई है। इस मत को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी जिस युग में ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति हुई थी उस समय भारत एवं फोनेशिया के मध्य यातायात का सम्बन्ध होने का कोई भी पमाण नहीं मिलता। इस मत का सबसे प्रबल खण्डन डा० राजवली पाण्डेय द्वारा किया गया है। आपने लिखा है- मैं यह नहीं मानता कि १५०० ई० पूर्व से ४०० ई० पू० में भारत तथा भूमध्य-सागर के किनारे के बीच यातायात का सम्बन्ध नहीं था। इसमें भी सन्देह नहीं कि फोनेशीय तथा ब्राह्मी-लिपि में समानता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि किस लिपि से कौन सी उद्भूत हुई है? इस प्रश्न का सम्बन्ध फोनेशीय जाति की उत्पत्ति से भी है। ग्रीस के प्राचीन इतिहास के पण्डितों के अनुसार, फोनेशीय लोग, पूरब की ओर से, समुद्र के मार्ग से, भूमध्यसागर के पूर्वी किनारे पर गये थे। ऋग्वेद के प्रमाण से भी पता चलता है कि फोनेशीय लोग भारत के निवासी थे। फोनेशिया तथा पश्चिमी एशिया के सामी-लिपियों में साम्य का अभाव भी यह इंगित करता है कि फोनेशीय लोग कहीं बाहर से आये थे। इससे इसी बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि भारत से ही फोनेशीय-लिपि भूमध्यसागर के तट पर गई थी।[1] इस प्रकार डा० राजवली पाण्डेय ने उल्टे फोनेशीय लिपि की ही उत्पत्ति ब्राह्मी-लिपि से मानी है।

(आ) **दक्षिणी सामी-लिपि से उत्पत्ति का सिद्धान्त**—डा० आइजक टेलर, डिके तथा कैनन आदि विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया है किन्तु इस मत को सानने में अनेक कठिनाइयां हैं। प्रथम तो इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व भारतीय संस्कृति पर अरबी-संस्कृति का तनिक भी प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता तथा द्वितीय ब्राह्मी तथा दक्षिणी सामी-लिपि में किसी प्रकार का साम्य भी नहीं मिलता है। अतः इस प्रकार के साम्य की चर्चा ही हास्यास्पद है।

(इ) **उत्तरी सीमा-लिपि से उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के सबसे बड़े पोषक डा० बूलर हैं। अनेक तर्कों के आधार पर उन्होंने ब्राह्मी के २२ वर्णों का उद्भव उत्तरी सामी-लिपि से, कतिपय वर्णों का प्राचीन फोनेशीय-लिपि से, कुछ का मिसा के शिलालेख से तथा ५ का उद्भव असीरिया के बांटों पर लिखित अक्षरों से माना है। इस सिद्धान्त के दूसरे बड़े समर्थक डा० डेविड डिरिंगर हैं। अपने सिद्धान्त के समर्थन में डा० डिरिंगर ने भी अनेक तर्क उपस्थित किये हैं।

---

१. डा० उदयनारायण तिवारी द्वारा अपनी पुस्तक "हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास" में पृष्ठ ५५३-५५७ पर डा० राजबली पाण्डेय को "इण्डियन पैलिओग्राफी" नामक पुस्तक के पृष्ठ-४१ से उदधृत।

इस सिद्धान्त का सर्वाधिक तर्कपूर्ण एवं युक्तियुक्त खण्डन डा० उदयनारायण तिवारी द्वारा किया गया है।[1] इस सिद्धान्त का खण्डन करने के पश्चात् अनेक प्रमाणों के आधार पर आपने ब्राह्मी-लिपि के भारत में ही उद्भूत होने के तथ्य को उपपादित किया है। आप लिखते हैं—"ब्राह्मी-लिपि के स्वरों और व्यञ्जनों की पर्याप्त संख्या एवं उच्चारण-स्थान के अनुसार उसका विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण, यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि इसके निर्माण में भाषा-शास्त्र तथा व्याकरण निष्णात ब्राह्मणों का हाथ था। इस लिपि की उद्भावना भी व्यावसायिक सुविधा के लिये लिये नहीं हुई थी, अपितु पवित्र वैदिक साहित्य को लिपिबद्ध करने के लिये ही उसका निर्माण हुआ था। इसका प्राचीनतम रूप सिन्धु-घाटी-लिपि से उपलब्ध है और वस्तुतः यह लिपि चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक-लिपि की विविध अवस्थाओं से होती हुई ब्राह्मी-लिपि में परिणत हुई थी।" इसी प्रकार श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा तथा श्री के० पी० जायसवाल ने भी इसी मत की अनेक अकाट्य तर्कों द्वारा स्थापना की है।

इस प्रकार यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति भारत में ही हुई थी न कि किसी अन्य देश में जैसा कि कुछ विदेशी विद्वानों का विचार है। इसके अतिरिक्त सर ए० कनिंघम आदि ने भी ब्राह्मी की भारतीय उत्पत्ति की ही पुष्टि की है।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति—

खरोष्ठी लिपि को अधिकांश विद्वान विदेशी ही मानते हैं। सम्भवतः यह ईरान के बादशाह डैरियस के राज्य-काल में भारत में आई तथा विशेषतः भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग तक ही सीमित रही। इसमें कुल २२ अक्षर थे और यह उर्दू की भांति दाएं से बाएं लिखी जाती थी। इसमें भी सामी-लिपि के समान ही स्वर-चिन्ह थोड़े ही थे। संयुक्ताक्षर भी इसमें कम थे। आज इसके केवल कुछ शिलालेख ही मिलते हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी तक इसका लोप हो चुका था।

इस लिपि के नाम के सम्बन्ध में भी प्रचुर मतभेद हैं। डा० प्रजिलुस्की का कहना है कि यह गधे की खाल पर लिखी जाने के कारण खरपृष्ठी तथा बाद में खरोष्ठी कहलाई। डा० चटर्जी के अनुसार खरोशेथ (Kharosheth) का अर्थ हिब्रू में 'लिखावट' है, उसी से ली जाने के कारण इसका नाम खरोष्ठी पड़ा। प्रसिद्ध चीनी कोष 'फग्युअन-चुलिन' के अनुसार भारतीय विद्वान् खरोष्ठ द्वारा बनाई गई होने के कारण इसका नाम खरोष्ठी पड़ा। कुछ लोगों के अनुसार इसका सीधा अर्थ गधे के ओष्ठ वाली है। खरोष्ठ प्रदेश की लिपि होने के कारण भी कुछ लोग इसे खरोष्ठी कहते हैं।

---

१. डा० उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ५६३।

सिन्धु घाटी की लिपि—

हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों की खुदाई में चित्र लिपि से युक्त अनेक मुद्रायें मिली हैं। इन मुद्राओं पर अंकित लिपि अभी तक किसी भी विद्वान द्वारा नहीं पढ़ी जा सकी हैं। गैड तथा स्मिथ के अनुसार यहां की लिपि के प्रतीकों की संख्या ३९६ है किन्तु लैंग्डन तथा हंटर के अनुसार यह संख्या २८८ तथा २५३ बताई जाती है। स्मिथ ने इन प्रतीकों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। ये हैं आदि के प्रतीक, अन्त के प्रतीक तथा संख्या-सम्बन्धी प्रतीक। इस लिपि का जन्म सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल में ही हुआ था, किन्तु सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय के सम्बन्ध में भी विद्वानों में प्रचुर मतभेद हैं। फिर भी इस लिपि का समय ईसा से ३०००-४००० वर्ष पूर्व के लगभग माना जाता है तथा इसको अधिकांश विद्वान् विशुद्ध रूप से भारतीय ही मानते हैं।

अब इसके अतिरिक्त हमारे प्राचीन साहित्य में भी अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे अति प्राचीन काल में भारत में किसी न किसी लिपि का अस्तित्व होना सिद्ध होता है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। वेद का दूसरा नाम 'श्रुति' भी है। पाश्चात्य विद्वानों ने वेद के इस नाम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वे मौखिक थे, किन्तु इतना बड़ा साहित्य बिना लिपिबद्ध हुये कैसे रह सकता था? इसके अतिरिक्त इसमें छन्द और गीत ही नहीं थे, गद्य भी था। यह सब बिना लिखे कैसे रचा जा सकता था? वेदों में दश, शत, आयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परिधि आदि संख्याओं का उल्लेख मिलता है। इन संख्याओं का ज्ञान बिना लिपि-ज्ञान के असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त अत्यन्त प्राचीनकाल में वेदों के प्रातिशाख्य ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। डा० आर० राँथ का कथन है कि वेदों को लिखित प्रतियों के बिना प्रातिशाख्य ग्रन्थों का निर्माण सम्भव नहीं था।

(२) रामायण, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी (५ वी शताब्दी ई० पू०) में स्पष्टत: लिपि, लिवि, लिपिकर, लिबिकर ग्रन्थ आदि के उल्लेख मिलते हैं।

(३) छान्दोग्य उपनिषद् में भी, जो निश्चय ही अष्टाध्यायी से प्राचीनतर है, अक्षरों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध जातकावलियों में भी पोत्थक (पुस्तक), राजकीय-पत्रों, व्यक्तिगत-पत्रों तथा ऋण-पत्रों का उल्लेख मिलता है।

(४) इस सबके अतिरिक्त के सिकन्दर के सेनापति निआर्कस का भी कथन है कि भारत के लोग रुई को कूट-कूट कर कागज बनाने थे और उस पर लिखा करते थे। मेगस्थनीज के गारा में भी धर्मशालाओं और दूरी के बोधक पाषाण खण्डों, जन्म-पत्रों और पञ्चाङ्गों का उल्लेख किया गया है। अजमेर जिले के बड़ली ग्राम और

नैपाल के तराई के पिपरावा ग्राम में भी कुछ शिला-लेख ब्राह्मी-लिपि के मिले हैं जिनका समय डा० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा के द्वारा ५वीं शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है ।

इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीयों को लिपि ज्ञान बहुत प्राचीन काल से था । अब केवल एक प्रश्न का उत्तर देना शेष रह जाता है और वह यह है कि यदि इतने प्राचीन काल से भारतीयों को लिपि का ज्ञान था तो आखिर इतना अधिक लिखित साहित्य तथा दूसरे पत्र आदि नष्ट कैसे हो गये ? इसका सरल सा उत्तर यह है कि भारत एक उष्ण देश है । प्राचीनकाल में यहाँ पर लेखन का आधार अधिकतर ताल-पत्र, भूर्ज-पत्र एवं रुई का बना कागज होता था । ये सब वस्तुयें अधिक टिकाऊ नहीं होतीं तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं । इसके अतिरिक्त बर्बर विदेशियों के द्वारा भी यहां की अधिकांश प्राचीन सामग्री नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई एवं जला डाली गई । नालन्दा-विश्वविद्यालय का जलाया जाना इतिहासकारों को भली प्रकार ज्ञात ही है । इसी कारण आज प्राचीन लिपि के आधार नष्ट हो गये हैं ।

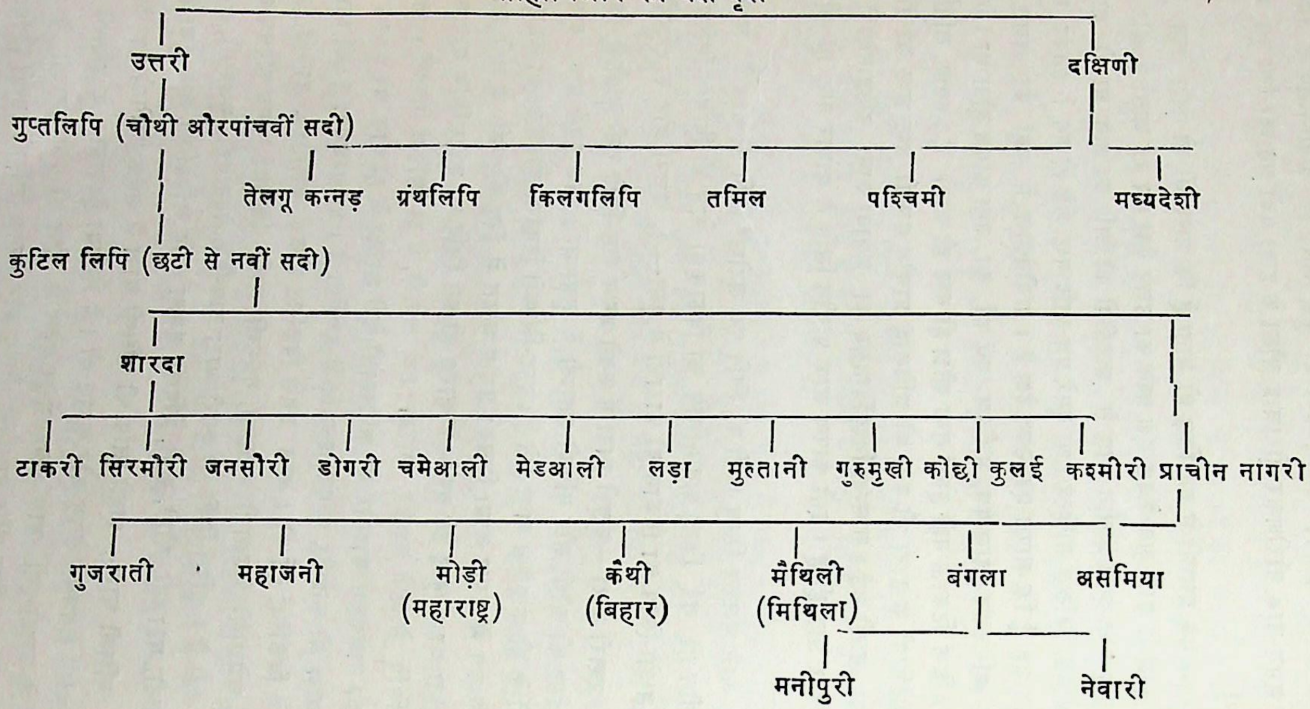
विकास—

आगे चलकर सिन्धु घाटी की लिपि एवं खरोष्ठी लिपि तो काल के अन्तराल में विलीन हो गईं किन्तु ब्राह्मी-लिपि का विकास ही आज की विभिन्न-लिपियों में हुआ । ब्राह्मी-लिपि का विकास दो धाराओं में हुआ—१. उत्तरी और २. दक्षिणी ।

उत्तरी धारा—उत्तरी धारा में सबसे प्रथम गुप्त-लिपि रखी जाती है, जिसका प्रयोग ईसा की चौथी और पांचवी शताब्दी में हुआ था । आज इसमें प्रायः गुप्तवंशी राजाओं के ही कुछ लेख प्राप्त होते हैं । गुप्त-लिपि से विकसित होकर इसका रूप कुटिल-लिपि के रूप में समक्ष आया जिसका प्रयोग भारत में ईसा की छठी से नवीं शताब्दी तक होता था । कुछ टेढ़े वर्णों के कारण ही इस लिपि को कुटिललिपि कहा गया । कुटिल-लिपि से आगे चलकर शारदा एवं नागरी, ये दो लिपियां निकलीं । शारदा लिपी का नामकरण काश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा के ही नाम पर हुआ । यह लिपि आज भी काश्मीर के पंडों इत्यादि में प्रचलित है । यह सम्भवतः १०वीं शताब्दी ईसवी में विकसित हुई थी । आज इससे विकसित होकर काश्मीरी, टाकरी, लंडा, डोंगरी, चमेआली, मेडआली, मुल्तानी, गुरुमुखी आदि लिपियां समग्र पश्चिम-भारत में चल रही हैं । कुटिल-लिपि की दूसरी धारा नागरी से देवनागरी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी, महाजनी, मोड़ी, कैथी, मैथिली, बंगला आदि लपियों का जन्म हुआ ।

दक्षिणी धारा—ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी धारा से अनेक लिपियों का विकास हुआ । इसमें सर्वप्रथम तेलगू और कन्नड़ थीं । ये लिपियां हैदराबाद के दक्षिणी भाग, मद्रास के उत्तरी-पूर्वी भाग तथा मैसूर प्रदेश में ईसा की ५वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक प्रचलित थीं । आधुनिक तेलगू और कन्नड़ लिपियां इन्हीं लिपियों से विकसित हुई हैं । तीसरी लिपि थी ग्रन्थलिपि जो ईसा की ७वीं शताब्दी से १५वीं

ब्राह्मी-लिपि का वंश-वृक्ष



शताब्दी तक मद्रास के कुछ प्रान्तों में प्रचलित थी। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के इस लिपि में लिखे जाने के कारण ही इस लिपि का नाम ग्रन्थलिपि पड़ा था। चौथी थी तमिल लिपि, जिसका प्रचार ईसा की सातवीं शताब्दी से ही प्राप्त होता है। आधुनिक तामिल इसी का विकसित रूप है तथा इसके अक्षर ग्रन्थ-लिपि से मिलते है। पांचवीं थी कलिंग-लिपि जो उड़ीसा में ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक प्रचलित थी। भिन्न-भिन्न समयों में अनेक लिपियों का प्रभाव पड़ने के कारण आज इस लिपि के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। छठी थी मध्यदेशीय-लिपि जो हैदराबाद के उत्तरी भाग, मध्यप्रदेश तथा बुन्देलखण्ड में प्रचलित थी। इसके अक्षरों के सिर चौखूटे या सन्दूक की आकृति के होते थे जो भीतर से कभी भरे और कभी खाली होते थे। दक्षिणी धारा के अन्तर्गत ही एक पश्चिमी-लिपि गुजरात, काठियावाड़, नासिक, खानदेश, हैदराबाद तथा मैसूर के कुछ भाग और कोंकण में ईसा की पाचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक प्रचलित थी। पश्चिमी प्रदेशों में प्राप्त होने के कारण ही इसका नाम पश्चिमी-लिपि पड़ा।[1]

४

- वर्ण-व्यवस्था का तथ ाउद्भव किासव
- चारों वर्णों का समाज में स्थान तथा उनके कर्त्तव्य
- वर्ण-व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था का सम्बन्ध
- जाति-प्रथा की विशेषतायें
- जाति, वर्ग एव वर्ण की तुलना

प्रश्न २२. वर्ण-व्यवस्था के उद्भव तथा विकास पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—प्राचीन भारतीय इतिहास का यद्यपि कोई तिथिपरक विवरण नहीं मिलता तथापि सुविधा की दृष्टि से हम भारतीय इतिहास के वेद आदि ग्रन्थों की रचनाओं के अनुसार अनेक काल-विभाजन कर लेते हैं। इसी ढंग से भारतीय इति-

---

१. ब्राह्मी-लिपि के विकास को और अच्छी प्रकार से समझने के लिये पिछले पृष्ठ पर दिया हुआ ब्राह्मी-लिपि का वंश-वृक्ष देखिये। वंश-वृक्ष डा० मनमोहन गौतम की "सरल भाषा-विज्ञान" नामक पुस्तक के पृष्ठ ३६१ से साभार गृहीत है।

ह्रास का काल-विभाजन कर हम प्रारम्भ से वर्ण-व्यवस्था का उद्गम खोजने का प्रयास कर रहे हैं।

वैदिक-संस्कृति का प्रथम काल था 'मन्त्र'। इस काल में ही ऋषियों ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा से 'धर्म' अर्थात् मन्त्रों में प्रतिपादित अर्थ का स्वयं साक्षात्कार किया और उसको मन्त्रों द्वारा प्रकट किया। इस काल में सुप्रसिद्ध पूजा-पद्धति के रूप में कर्मकाण्ड का तो नाम-मात्र ही था। वास्तविक रूप में तो उस समय आर्यों का जीवन ही उनका कर्मकाण्ड था।

वैदिक संस्कृति के द्वितीय काल को 'मन्त्र-प्रवचन-काल' कहा जाता है। इस समय श्रुति-परम्परा से प्राप्त प्राचीन मन्त्रों को, गुरु-शिष्य को प्रवचन-श्रवण-पद्धति द्वारा, सुरक्षित रखने पर ध्यान दिया गया। इस काल में भारतीय जीवन, समाज और राजनीति को, व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ। इसी काल में याज्ञिक कर्मकाण्ड का, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में प्रारम्भ हुआ। यह सब कुछ होते हुये भी अभी तक समाज का वर्णों आदि के आधार पर कोई विभाजन हुआ हो इस प्रकार का कोई प्रमाण कहीं उपलब्ध नहीं होता।

इसके पश्चात् वैदिक-संस्कृति का तृतीय काल आता है जो वास्तविक रूप में विशाल वैदिक कर्मकाण्ड के व्यवस्थित किये जाने का युग था। इस काल में मन्त्रों में देखे गये कर्मों का बहुत विस्तार किया गया। इसी काल में जन्म-परक पर्ण विभाग की प्रवृत्ति का उदय हुआ। इस काल के प्रारम्भ में सारी आर्य-जनता अपने आपको विशु अर्थात् आर्य-प्रजा समझती थी। धीरे-धीरे संघर्षमय जीवन के कारण 'क्षत्र' अर्थात् रक्षा करना एवं 'ब्रह्म' अर्थात् सत्य की खोज करना इन दो कार्यों का समाज में प्राधान्य हो गया और इन्हीं से क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णों का प्रारम्भ हुआ। पहले काम होता है, बाद में नाम बनता है, इसी के अनुसार यहां भी पहले क्षत्र और ब्रह्म के कार्य अस्तित्व में आये तथा फिर उनके नाम। इसी समय प्रजा-तन्त्र के स्थान में राजतन्त्र की स्थापना होने से सामान्य जनता में ही क्रमशः वैश्य वर्ग और शूद्र-वर्ग का भी जन्म हुआ। इस काल में, अपने वंश पारम्पर्य से प्राप्त कार्य में आगे आने वाली पीढ़ियां अधिक कार्यकुशल होंगी और इस प्रकार अपने-अपने पेशों की रक्षा भी सुगमता से की जा सकेगी, इस प्रकार का विचार रहते हुये ही जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था।

वैदिक धारा के इस तृतीय काल में ही ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुषसूक्त की रचना की गई। पुरुषसूक्त में ही सर्वप्रथम चारों वर्णों का एक स्थान पर उल्लेख मिलता है। इस सूक्त का एक मन्त्र है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्य पदभ्यां शूद्रोऽजायत् ॥

अर्थात् ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख था, क्षत्रिय वाहु थे तथा वैश्य जंघायें थीं, शूद्र इस विराट् पुरुष के पैरों से ही उत्पन्न हुये थे।

वास्तव में तो इस मन्त्र में अलंकारिक भाषा में ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के अंगांगि भाव को बतलाया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शरीर में कोई अंग दूसरे अंग की उपेक्षा नहीं करता, अपने एक अंग की पीड़ा से सब अंग व्याकुल हो जाते हैं कोई भी अंग अपने लिये नहीं, अपितु दूसरे अंगों के हित में ही काम करता है, ठीक उसी प्रकार की स्थिति समाज रूपी शरीर की है जिसके ब्राह्मण आदि चारों वर्ग अंग स्वरूप हैं।

इस प्रकार की स्थिति वर्ण-व्यवस्था की आदर्श स्थिति थी। उस समय यद्यपि वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित थी तथापि यह रूढ़िमूलक नहीं हुई थी। कहने का प्रयोजन यह है कि एक वर्ण में जन्मा हुआ व्यक्ति भी उस समय अपनी सुविधा एवं स्वभाव के अनुसार किसी दूसरे वर्ण को ग्रहण कर सकता था और दूसरे वर्ण में भी वही सम्मान मिलता था जो अपने वर्ण में। निम्नलिखित उद्धरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापाद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्मचयया पूर्वो वर्ण जघन्य जघन्य वर्णमाद्यते जातिपरिवृत्तौ॥

(आपस्तम्ब धर्मसूत्र)

अर्थात् जाति परिवर्तन में, धर्मचर्या से नीचवर्ण अपने से ऊंचे वर्ण को प्राप्त होता है व अधर्मचर्या से उच्चवर्ण अपने से नीच वर्ण को।

शुद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जात मे वन्तु मे विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

(मनुस्मृति)

शूद्र ब्राह्मण बनता है व ब्राह्मण शूद्र। इसी प्रकार क्षत्रिय व वैश्य का हाल जानना चाहिये।

वास्तव में तो उस समय यद्यपि समाज को वर्णों में विभाजित कर दिया गया था तथापि सब वर्णों में एकता के सूत्र का लोप नहीं हुआ था। इसलिये उस समय आपस में खान-पान, विवाह आदि सभी कुछ प्रचलित थे। अलग-अलग वर्णों के होते हुये भी सभी व्यक्ति अपने को समाज का एक महत्वपूर्ण अंग मानते थे। यहाँ तक कि शूद्रों को भी पृथक करने अर्थात् उनको अस्पृश्य मानने का विचार इस काल में लोगों के मस्तिष्क तक में न आया था।

चारों वर्णों की यह आदर्श स्थिति समाज में कब और कितने काल तक रही यह तो कहना कठिन है फिर भी यह तो निश्चित ही है कि इस प्रकार की स्थिति में धीरे-धीरे ह्रास होने लगा और वर्ण व्यवस्था ने परस्पर अविश्वास, संघर्ष और द्वेष

का रूप धारण कर लिया । इसी समय धीरे-धीरे वर्ण व्यवस्था में अधिकाधिक कृत्रिमता तथा कट्टरता आने लगी । सम्भवतः यही समय था जबकि 'वर्ण' शब्द के स्थान पर 'जाति' शब्द का व्यवहार प्रारम्भ हुआ । महाभारत काल तक समाज में यह व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही । महाभारतकाल के पश्चात् इसका सच्चा स्वरूप लुप्तप्राय होने लगा और परिणामतः समाज पतन की ओर बढ़ता ही गया । अपने विकृत रूप में यह व्यवस्था भारत में आज भी वर्तमान है ।

प्रश्न २३. प्राचीन काल में चारों वर्णों का समाज में क्या स्थान था ? उनके क्या-क्या कर्त्तव्य थे ?

उत्तर—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक मन्त्र इस प्रकार है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत् ॥

अर्थात् उस विराट पुरुष का ब्राह्मण मुख था, राजा अर्थात् क्षत्रिय बाहु बने । जो इस विराट पुरुष की जंघाएं थीं वे ही वैश्य बने और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये ।

इस मन्त्र में उस समय की सामाजिक व्यवस्था का अलंकारिक रूप में वर्णन किया गया है । इस मन्त्र में चारों वर्णों के कर्त्तव्यों की विवेचना की गई है । जिस प्रकार शरीर में मुख का कार्य विचार करना आदि होता है, उसी प्रकार समाज में ब्राह्मणों का कार्य वेद आदि का अध्ययन करके समाज के लिये आवश्यक नियम आदि बनाना तथा महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान आदि ढूंढ़ना था । इसी प्रकार बाहुओं के सदृश ही क्षत्रियों का भी कार्य समाज की रक्षा इत्यादि करना था । ठीक इसी से वैश्यों और शूद्रों के कार्यों को भी उचित रूप से उपर्युक्त मन्त्र में निर्दिष्ट किया गया है । चारों वर्णों के समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की एक विवेचना नीचे प्रस्तुत की जा रही है ।

ब्राह्मण—ब्राह्मणों के लिये 'मुख' शब्द का अभिधान केवल खाने वाले अंग के लिये नहीं किया है वरन् प्रधानतया विचार करने वाले मस्तिष्क के लिये किया गया है । जिस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क उसकी सब क्रियाओं का संचालन करता है तथा उदात्त भावनाओं व विचारों को पैदा कर उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करता है उसी प्रकार समाज के भी इने-गिने लोग मस्तिष्क कहलाते हैं, जो परमात्मा प्रदत्त समस्त शक्तियों का सम्यक् विकास कर अपने मस्तिष्क से उदात्त व सुन्दर भाव प्रकट करते हैं तथा अपने अनुभव व ज्ञान के द्वारा अच्छी-अच्छी आयोजनायें एवं जीवन-चर्यायें उपस्थित करते हैं, जिनको अपनाने से समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है । समाज के इन इने-गिने व्यक्तियों को इसलिये ब्राह्मण कहा गया क्योंकि वे निरन्तर ब्रह्म अर्थात् सत्य की खोज में लगे रहते थे । यह लोग आजीवन समाज-सेवा,

ज्ञानोपार्जन, ज्ञानवितरण आदि में ही लगे रहते थे। सांसारिक वैभव से ये बिल्कुल दूर रहते थे। समाज के अतिरिक्त राजदरबारों में भी इनका खूब सम्मान होता था।

ब्राह्मणों के प्रमुख कर्त्तव्य थे—

(१) वेद पढ़ना, पढ़ाना।

(२) यज्ञ करना, कराना।

(३) यम-नियमादि की साधना द्वारा आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होना तथा

(४) मानव-रिपुओं का दमन कर समाज के सामने अच्छा आदर्श रखना।

साधारणतया ब्राह्मणों का सारा समय वेदाभ्यास, तपश्चर्या, योगसाधन आदि में ही निकल जाता था। वे सांसारिक ऐश्वर्य की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। आज तो ब्राह्मणों के इस स्वरूप एवं इन कर्त्तव्यों का प्रायः पूर्ण रूपेण ही लोप हो गया है।

क्षत्रिय—क्षत्रिय विराट् पुरुष के बाहु स्थानीय हैं। जिस प्रकार भुजायें सम्पूर्ण शरीर की रक्षा के लिये हैं उसी प्रकार समाज के इस वर्ग का कार्य भी बाह्य एवं आंतरिक शत्रुओं से समाज की रक्षा करना है। श्रीमद्भगवद्गीता में क्षत्रियों के कर्मों की सूची एक ही श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से दी गई है जो इस प्रकार है—

शौर्यं तेजो धतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमोश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥[1]

शौर्य का अर्थ हैं शारीरिक शक्ति का अच्छा विकास कर वीरत्व को धारण करना, जिससे आपत्ति के समय वीरतापूर्वक समाज की रक्षा की जा सके।

'तेज' का अर्थ होता है आत्मिक बल के विकास से अपने व्यक्तित्व को आकर्षक व प्रभावोत्पादक बनाना। क्षत्रियों को इस प्रकार का तेज प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था।

'धृतिः' का अर्थ होता है धैर्य अर्थात् हिम्मत। इसकी भी क्षत्रियों के लिये परम आवश्यकता होती थी।

'दाक्ष्यम्' व्यवहारकुशलता को कहते हैं। बिना व्यवहार-कुशल हुये क्षत्रिय अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् रूप से पालन नहीं कर सकते। राष्ट्रों का बनना व बिगड़ना, बड़े बड़े साम्राज्यों का जीवन व मरण सब कुछ 'दाक्ष्यम्' पर ही मुख्यतः आधारित होते हैं।

'युद्धेऽपलायनम्' अर्थात् युद्ध से न भागना भी क्षत्रियों के लिये अत्यन्त ही आवश्यक था। युद्ध से मुंह मोड़कर भागना क्षत्रियों के लिये मृत्यु से भी खराब माना जाता था।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १८/४३।

दान देना भी क्षत्रियों के लिये समाज के रक्षक होने के नाते, आवश्यक था। ईश्वरभाव का अर्थ होता है ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुसत्ता का भाव। बिना ऐश्वर्य के क्षत्रिय कैसा !

इनके अतिरिक्त प्रजा-रक्षक, यज्ञ करना, अध्ययन, विषयासक्त न होना आदि भी क्षत्रिय के प्रमुख कर्त्तव्य समझे जाते थे। प्रजारक्षण तो राजा का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता था। क्षत्रिय को वेद का अध्ययन भी जारी रखना पड़ता था तथा यज्ञ इत्यादि भी करने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त उसे विषयासक्ति से भी दूर रहना आवश्यक था।

वैश्य—वैश्यों को उस विराट् पुरुष की जंघाएं बतलाया गया है। जिस प्रकार शरीर का सारा भार जंघाओं पर ही रहता है तथा वे ही उसका वहन करती हैं उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण आदि का सब भार वैश्यों को ही वहन करना पड़ता था। प्राचीनकाल में प्रत्येक वैश्य को यह समझना पड़ता था कि मैं समाज का एक अंग मात्र हूं व समाज ने मुझे साम्पत्तिक विकास का काम सौंपा है। अतएव वह जो कुछ कमाता था उस पर समाज का पूरा-पूरा अधिकार रहता था तथा अन्य तीनों वर्ण उसमें से अपना-अपना भाग लेते थे। उस समय के वैश्यों में त्यागवृत्ति कूट-कूट कर भरी रहती थी। किसी प्रकार का आर्थिक असन्तोष तो समाज में फटकने तक न पाता था।

वैश्यों के प्रधान कर्म थे—पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदादि का अध्ययन करना, व्यापार करना, साधारण व्याज लेना व कृषि करना। समाज के भरण-भोषण के लिये पशुपालन एवं कृषि का अत्यधिक महत्व था और इसीलिये वैश्यों के कर्त्तव्यों में उनका समावेश किया गया था। धन कमाने के अतिरिक्त वेदाध्ययन एवं यज्ञ आदि करना भी उनके लिये परमावश्यक माना गया था।

शूद्र—शूद्र उस विराट् पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुये हैं। दूसरे शब्दों में समाज में शूद्रों का वही स्थान है जो शरीर में पैरों का। इसका प्रधान कर्म था समाज में अन्य तीनों वर्णों की सेवा। मनु ने भी कहा है —

"एकमेव तु शुद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशद्।
एतेषामेव वर्णानां शश्रूषामनसूयया।।[1]

अर्थात् इन (तीन) वर्णों की असूया-रहित सेवा करना यही एक कर्म परमात्मा ने शूद्र के लिये बनाया है।

यद्यपि शूद्र का कार्य समाज की सेवा करना था तथापि शूद्रको नीचा नहीं समझा जाता जैसा कि आजकल समझा जाता है। उच्च वर्ण के लोग उससे घृणा नहीं करते थे। प्राचीनकाल में अनुलोम (ऊंचे वर्ण का पति और नीच-वर्ण की स्त्री) व प्रतिलोम (नीच-वर्ण का पति व ऊंचे वर्ण की स्त्री) विवाह समाज में प्रचलित थे, जिससे शूद्रों की

---

१. मनुस्मृति १।९१।

स्थिति का अच्छा पता लगता है। प्राचीन काल में चारों वर्णों में आपस में खान-पान व्यवहार भी था। इसके अतिरिक्त शूद्रों को अनेक धार्मिक अधिकार भी प्राप्त थे तथा उनका यज्ञोपवीत संस्कार भी हो सकता था। शूद्र के लिए भी वेदमन्त्रों से रहित निषेक पुंसव, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल आदि संस्कार विहित थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय समाज में चारों वर्णों का विभाजन केवल कर्म को ही दृष्टि में रखकर किया गया था, किसी प्रकार की ऊंच-नीच की भावना को ध्यान में रखकर नहीं।

प्रश्न २४. वर्ण व्यवस्था एवं जाति-व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर—हमारे हिन्दू समाज की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-व्यवस्था है। आज हम देखते हैं कि हिन्दू-समाज सैकड़ों जातियों (एवं कहीं कहीं तो अनेक उपजातियों तक) में बंटा हुआ है। इधर कुछ प्राचीन परम्परा के मानने वाले विद्वान भी हैं जो चिरकाल से ही इन सब जातियों को प्राचीन भारत में प्रचलित चारों वर्णों के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। तो आखिर इस वर्ण-व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था में कुछ सम्बन्ध है भी या नहीं। इस बात की तर्कपूर्ण खोज करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

आधुनिक भारत में प्रचलित जाति-व्यवस्था एवं प्राचीन भारत में (तथा केवल अवशिष्ट रूप में दृश्यमान) वर्ण व्यवस्था में क्या सम्बन्ध है इस विषय में विभिन्न मत हैं। फिर भी इनमें से तीन विचारधारायें प्रमुख हैं। प्रथम विचारधारा के पक्षपाती तो वे लोग हैं जो समझते हैं कि वर्ण-व्यवस्था भारत में सृष्टि के आदि से ही विद्यमान थी तथा आधुनिक जाति-व्यवस्था का प्रादुर्भाव भी धीरे-धीरे इसी वर्ण-व्यवस्था से हुआ है। अपने मत की पुष्टि में वे निम्न प्रमाणों को उद्धृत करते हैं—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिद जगत्।
ब्राह्मणा पूर्व सृष्ट हि कर्मणा वर्णतां गतम्॥[1]

अर्थात् यह सारा जगत् ब्रह्म से परिपूर्ण है और इसमें वर्णों का होना कोई विशेषता अर्थात् वैशिष्ट्य का बोधक नहीं है क्योंकि विधाता ने पहले से ही कर्म के आधार पर इसको अर्थात् जगत् को वर्णता से परिपूर्ण बनाया था।

(कृतयुग)..............वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदाससन्नसंकरः।[2]

अर्थात् सतयुग में वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था थी तथा उनके (विवाह आदि के द्वारा) समीप अर्थात् सम्बद्ध होने पर भी संकर नहीं होता था।

इसके अतिरिक्त वे ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि में पाये जाने वाले निम्नलिखित मन्त्र का भी अपने मत के अनुसार ही अर्थ करते हैं—

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व १८८।१०।

२. वायुपुराण ८।६०।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत् ।।[1]

इस मत के मान लेने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यदि वर्ण भेद सृष्टि के प्रारम्भ से ही है तो आज की ये इतनी जातियां कहाँ से आ गयीं? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर उक्त मत के मानने वालों के द्वारा इस प्रकार दिया जाता है कि आजकल की जातियों में कुछ जातियां तो उपर्युक्त वर्णों से ही निकली हैं तथा कुछ उनके परस्पर संकर से उत्पन्न हुई हैं। इस मत के अनुसार जाति भेद वर्ण-भेद से मूलतः ही घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त ये वर्णों को भी जाति-भेद ही मानते हैं तथा आजकल की जातियों को उक्त वर्णों अर्थात् जातियों की अवांतर जातियां मानते हैं।

दूसरे मत के प्रस्तुत करने वाले हैं आजकल के सुधारक। उनका कहना है कि प्राचीन समय में अनेकानेक जातियां नहीं थीं वरन् गुण एवं कर्म पर आधारित केवल चार वर्ण थे। धीरे-धीरे अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि कारणों के सामने आने से अनेकानेक जातियां बन गयीं। ये लोग वर्णों के परस्पर संकर से उत्पन्न होने वाली जातियों को सम्भवतयः नहीं मानते हैं। क्योंकि इन्होंने इस प्रकार का कोई विचार व्यक्त नहीं किया है।

तीसरा मत् डाक्टर मंगलदेव आदि विद्वानों ने अनेक सुदृढ़ तर्कों द्वारा प्रस्तुत किया है। इनका कहना है कि अनेकानेक वर्तमान जातियों का वर्ण-भेद से कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है तथा जाति भेद का कारण वर्ण-सांकर्य भी बहुत कम है। ये जातियों को वर्ण-व्यवस्था से भी पूर्व का मानते हैं तथा इनका विकास अनेक भिन्न-भिन्न कारणों (जिनमें आर्थिक, सामाजिक आदि प्रमुख हैं) से ही स्वतन्त्र रूप से हुआ मानते हैं। इसके अतिरिक्त इनका यह भी कहना है कि जातियां वर्ण-व्यवस्था से पूर्व भी विद्यमान थीं तथा जातियों को चारों वर्णों के अन्तर्गत ही लाने का प्रयत्न बहुत समय से होता आया है।

इन्होंने कहा है कि सभ्यता की ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें मनुष्यों की आवश्यकतायें बहुत अधिक न होकर नियत होती हैं तथा साथ ही दूसरे देशों के साथ गमनागमन भी कम होता है। ऐसे समय में ही भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार भिन्न मनुष्य समुदाय अपना पृथक समाज बना लेते हैं क्योंकि उनको इसमें सुविधा होती है कि आपस में ही विवाहादि सम्बन्ध करें। इसी प्रकार से विभिन्न जातियों का उद्भव होता है।

---

१. ऋग्वेद १०। पुरुषसूक्त तथा यजुर्वेद ३१।११

जाति-भेद का कारण वर्ण-सांकर्य भी बहुत कम है। इसके प्रमाण में डा० मंगलदेव शास्त्री[1] ने यजुर्वेद (माध्यन्दिन-संहिता, अध्याय ३०) का उल्लेख किया है जहां पर सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, चाण्डाल आदि अनेक जातियों का उल्लेख हुआ है। मनुस्मृति के अनुसार इन जातियों की उत्पत्ति वर्णसांकर्य से हुई है किन्तु इसी स्थल पर आपने मनुस्मृति के इस कथन को सत्य मानने वालों से पूछा है कि यदि वेद भी वर्णों की तरह से ही सृष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न हुये थे तो उसी समय वर्णसाँकर्य से उत्पन्न ये जातियां कहां से आ गयीं? इसके अतिरिक्त आपने इन जातियों के वर्ण संकर-मूलक न होने के पक्ष में महाभाष्य, अष्टाध्यायी आदि का भी उल्लेख किया है।

इस विरोध का आपने परिहार भी प्रस्तुत किया है जिसे मैं उन्हीं के शब्दों में यहां प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"प्रारम्भ में 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय' आदि वर्णवाची शब्द यौगिक समझे जाते थे। इसी कारण आर्यावर्त के अन्दर तथा आस-पास रहने वाली अनेक आर्य तथा अनार्य जातियों को उनके कर्म के अनुसार आर्य लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शब्दों से पुकारते थे। पीछे से जब यह शब्द आर्यावर्त्त में रूढ़ार्थक हो गये तब उन आर्य या अनार्य जातियों को जिनमें आर्यावर्तीय आर्य-संस्कृति ठीक रूप में नहीं पायी जाती थी, यहां के शास्त्री लोग सकरज या शूद्र कहने लगे। यही कारण है कि जहां एक ओर अष्टाध्यायी (देखिये काशिका ४।१।१६८—१७८) आदि के अनुसार पौण्ड, कंबोज, चोल, केरल, शक आदि आर्य या अनार्य जातियां क्षत्रिय कही गयी हैं, वहां दूसरी ओर मनुस्मृति[2] आदि के अनुसार वे या तो वृषल कही गयी हैं या संकरज बतलाई गई हैं! चीनी आदि अनार्य जातियों के विषय में मनुस्मृति का यह कहना कि वे "शनकैस्तु क्रियालोपाद्..................ब्राह्मणादर्शनेन च" अर्थात् पूर्ववर्ती आर्य-संस्कृति के छोड़ देने से शूद्रता को प्राप्त हो गई हैं केवल उपहासास्पद है।"[3]

---

१. देखिये डा० मङ्गलदेव शास्त्री कृत भारतीय संस्कृति का विकास—वैदिक धारा पृष्ठ ३११।

२. देखिये—

"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणदर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौलद्रविडाः कम्बोजा यवनाः शकाः।
परदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥

(मनुस्मृत्ति १०।४३-४४)

३. देखिये डा० मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास वैदिक धारा पृष्ठ ३११—१२।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि के आदि से ही चार वर्णों की स्थिति को मानने वालों ने जब अनेकानेक जातियां देखीं तथा विशेषकर भारतवर्ष के उन प्रान्तों में जहां रूढ़िपरक वर्ण-व्यवस्था प्रचलित नहीं हुई थी, तब उनको संकर-मूलक कहना प्रारम्भ कर दिया। वास्तव में तो उनका वर्ण-भेद-व्यवस्था से उस समय तक कोई सम्बन्ध नहीं होने पाया था तथा वे प्रायेण स्वतन्त्र जातियां थीं। हिन्दू-समाज में आज अनेक ऐसी जातियों का होना, जिनका किसी भी वर्ण से सम्बन्ध ही नहीं मालूम पड़ता, भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि वर्णभेद, जाति-भेद से वस्तुतः असम्बद्ध है और कई अंशों में उसके बाद का भी हो सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वर्ण-भेद एवं जाति-भेद का सम्बन्ध प्रायः नहीं के बराबर ही है अथवा दूसरे शब्दों में यह सम्बन्ध केवल सांकेतिक या रिवाज है। वास्तव में तो ये सर्वथा स्वतन्त्र धारायें ही हैं। इनमें से यदि जाति-भेद की धारा को ऐतिहासिक कहा जा सकता है तो वर्ण-भेद की धारा को रूढ़ या सांकेतिक कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यदि जाति-भेद का कारण ऐतिहासिक या वस्तुगत है तो वर्ण-भेद का कारण काल्पनिक एवं केवल विचारमूलक है। इसके अतिरिक्त एक बात और शेष जाती है और वह यह कि परम्परागत विचारधारा के अनुसार वर्णभेद के साथ ऊंच-नीच की भावना का गहरा सम्बन्ध है, जाति-भेद के साथ नहीं। रूढ़िमूलक वर्णभेद की भावना की उपेक्षा से, जातियां एक स्तर पर आ जाती हैं। वे आचार-विचार और रुचि की समानता के आधार पर आसानी से मिल भी सकती हैं।

प्रश्न २५. भारत में जाति प्रथा की क्या विशेषतायें हैं ?

उत्तर—अधिकांश विद्वानों का मत है कि भारतीय जाति व्यवस्था की कोई सुनिश्चित परिभाषा दे सकना सम्भव नहीं है तथापि सभी विद्वानों ने जाति-प्रथा की कुछ विशेषतायें अवश्य दी हैं। यहां पर उन सभी विद्वानों के मतों के आधार पर ही जाति प्रथा की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

(१) **जाति का आधार जन्म**—जाति प्रथा की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इसका निर्धारण जन्म से होता है। जिस व्यक्ति का जन्म जिस जाति में होता है उसकी वही जाति होती है। जन्म के आधार पर निर्धारित जाति में परिवर्तन नहीं हो सकता है। कभी कभी ऐसा अवश्य होता है कि यदि कोई व्यक्ति नीच कर्म करता है तो उसका जाति से बहिष्कार कर दिया जाता है और यदि उस समय उसे कोई नीची जाति के लोग अपनी जाति में सम्मिलित कर लेते हैं तो उसकी जाति बदल जाती है। इसी प्रकार जब कभी कोई अन्तर्जातीय विवाह होता है तो स्त्री को अपनी जाति को छोड़ना पड़ता है तथा पुरुष की जाति को अपनाना पड़ता है। सामान्य दशा में एक जाति को छोड़कर दूसरी जाति ग्रहण करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

(२) **विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध**—जाति की दूसरी विशेषता है कि उसके सदस्य अपने समूह में ही विवाह कर सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुष को

अपनी जाति की ही किसी स्त्री से विवाह करना चाहिये। इस प्रकार के विवाह अन्तर्विवाह कहलाते हैं। यदि कोई व्यक्ति जाति से बाहर विवाह करता है तो उसे कठोर दण्ड मिलता है और अधिकांशतः उसे जाति से निष्कासित कर दिया जाता है। जाति के अन्तर्गत अन्तर्विवाह करने वाली उप-जातियां होती हैं। प्रत्येक अन्तर्विवाह करने वाली उप-जाति बहिर्विवाह करने वाले समूह में विभक्त होती है। हिन्दू कानून के अनुसार रक्त से सम्बन्धित स्त्री और पुरुष में विवाह नहीं हो सकता, जिनके पिता की छः पीढ़ियों और माता की चार पीढ़ियों के पुरखे एक हों, ऐसे स्त्री पुरुष का विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता। हिन्दू जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सगोत्र विवाह निषिद्ध है। प्रारम्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों में थोड़े ही गोत्र थे किन्तु सभ्यता के विकास के साथ साथ आज इनके गोत्रों की संख्या बहुत बढ़ गई है। यहां तक कि शूद्रों ने भी अब अपने गोत्र निर्माण कर लिये हैं। सभी धर्मशास्त्रों के अनुसार सगोत्र विवाह निषिद्ध है।

(३) **खान पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध**—हिन्दुओं के खाने पीने पर भी कठोर प्रतिबन्ध हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं में प्रायः प्रत्येक जाति में कठोर नियम पाये जाते हैं। इन नियमों के अनुसार ही यह निश्चित किया जाता है कि किन जातियों के लोगों के हाथ का बनाया हुआ खाना खाया जा सकता है और किन जातियों का छुआ हुआ पानी पिया जा सकता है। विभिन्न जातियों के खान-पान सम्बन्धी निषेधों के आधार पर श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी ने भारत की जातियों को पांच समूहों में विभक्त किया है। प्रथम, द्विजन्मा जातियां, द्वितीय जिन जातियों के हाथों से द्विजन्मा लोग पक्का भोजन[1] ग्रहण कर सकते हैं, तृतीय जिन जातियों के हाथ से द्विजन्मा लोग किसी भी प्रकार का भोजन ग्रहण नहीं कर सकते हैं, किन्तु जल ग्रहण कर सकते हैं; चतुर्थ वे जातियां हैं जो यद्यपि अस्पृश्य नहीं हैं तथापि द्विजन्मा लोग इनके हाथ का छुआ हुआ जल भी ग्रहण नहीं कर सकते हैं तथा पञ्चम समूह में वे समस्त जातियां आती हैं जिनके स्पर्श मात्र से न केवल द्विजन्मा लोग वरन् प्रत्येक रूढ़िवादी हिन्दू अपने आपको अपवित्र मानता है।[2]

सामान्यतः ब्राह्मण के हाथ का बनाया हुआ भोजन समस्त जातियों के लोग

---

१. हिन्दुओं में भोजन दो प्रकार का माना जाता है—कच्चा भोजन और पक्का भोजन। कच्चा भोजन वह कहलाता है जिसके पकाने में पानी का ही अधिकांतः प्रयोग होता है तथा घी का प्रयोग केवल अलग से किया जाता है। पक्का भोजन वह कहलाता है जिसमें जल का प्रयोग बहुत कम होता है और अधिकांशतः घी में ही पकाया जाता है।

२. शम्भूरत्न त्रिपाठी—भारतीय समाजशास्त्र पृष्ठ ४५ पर उत्तर-प्रदेश जनसंख्या विवरण १९०१, (अंग्रेजी) के पृष्ठ २२७ से उद्धृत।

ग्रहण कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य जातियों के लोग अपनी ही जाति या उप-जाति के लोगों का बनाया हुआ कच्चा भोजन ग्रहण कर सकते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में तो इस सम्बन्ध में इतने कठोर नियम हैं कि एक कहावत ही प्रसिद्ध हो गई है—तीन कनौजिये और तेरह चूल्हे। कनौजिये तो किसी दूसरे कनौजिये ब्राह्मण के हाथ के पके हुये भोजन को ग्रहण करने के विषय में भी नाना सोच–विचार करते हैं।

४. **संस्तरण का अर्थ होता है उतार चढ़ाव**—डा० मंगलदेव शास्त्री ने जाति-व्यवस्था का अस्तित्व भारत में वर्ण व्यवस्था के उद्भव से भी प्राचीन माना है। साथ ही साथ यह भी माना जाता है कि जाति प्रथा के प्रारम्भ में विभिन्न जातियों में ऊंच नीच की भावना न थी। वर्ण-व्यवस्था को देखकर जातियों के अपने आपको किसी न किसी वर्ण के अन्तर्गत समाहित करने के प्रयत्न के फलस्वरूप ही जातियों में भी ऊंच-नीच की भावना का समावेश हुआ। आज वर्ण और जातियां प्राय: घुल मिल गई हैं और वर्णों एवं जातियों को पृथक् करना असम्भव सा हो गया है कारण यह है कि जातियां दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही हैं तथा दूसरी ओर विभिन्न जातियों के अपने आपको किसी न किसी वर्ण का अंग बनाने के प्रयत्न भी जारी हैं। इस प्रकार आज जाति-प्रथा में संस्तरण के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का अपना–अपना उच्च अथवा निम्न स्थान बन गया है। वर्णों में ब्राह्मणों की स्थिति आज भी समाज में सबसे ऊंची है। इसके बाद क्रमश: क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान एक के बाद दूसरा नीचे उतरता चला गया है। इन वर्णों में प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत भी अनेक श्रेणियां होती हैं जिनके आधार पर कुलीन विवाह होते हैं। जैसे ब्राह्मणों के छोटे बड़े असंख्य भेद हैं। इनमें कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—'कान्यकुब्जो द्विजां श्रेष्ठ: मैथिल: मध्यम:.....' कान्यकुब्जों में बीस विश्वा वाले ऊंचे माने जाते हैं तथा कम विश्वा वाले नीचे। बीस विश्वा के कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में भी आंक द्वारा ऊंचाई निचाई का निर्धारण होता है। अच्छी आंक वाले ब्राह्मण ऊंचे माने जाते हैं तथा बुरी आंक वाले ब्राह्मण नीचे माने जाते हैं। इसी प्रकार का संस्तरण न्यूनाधिक रूप में क्षत्रियों एवं वैश्यों में भी पाया जाता है। शूद्रों में भी अनेक श्रेणियां होती हैं जिनमें कुछ ऊंची तथा नीची मानी जाती हैं। वर्णों के समान संस्तरण का क्रम आज जाति–प्रथा का भी एक प्रमुख अंग बन गया है।

(५) **व्यवसायों के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव**—प्रत्येक जाति में कुछ व्यवसायों को परम्परागत माना जाता है और उन्हें छोड़ना साधारणतया अच्छा नहीं समझा जाता है। यही कारण है कि ब्राह्मण पुरोहिती एवं चमार जूते बनाने के कार्य को ही पसन्द करते हैं। साधारणतया तो ऐसा ही होता है किन्तु कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिन्हें हर जाति के लोग कर सकते हैं जैसे खेती, व्यापार, सेना की नौकरी आदि। केवल एक जाति के ही व्यक्ति अपनी जाति के व्यक्तियों को अन्य व्यवसाय

करने से नहीं रोकते हैं, अपितु दूसरी जाति के व्यक्ति भी अनेक प्रकार से ऐसा करने से रोकने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि आज भी जूतों की मरम्मत करता हुआ कोई ब्राह्मण शायद ही मिले, भंगी का काम करता हुआ शूद्र से अन्य नहीं मिलेगा तथा कर्मकाण्ड, पूजा-पाठादि का कार्य क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र करता हुआ नहीं मिलेगा। आजकल विज्ञान आदि की प्रगति के कारण दिन-प्रतिदिन इस प्रकार के सामाजिक बन्धनों में भी शिथिलता आती जा रही है।

(६) **विभिन्न जातियों की सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यतायें**—जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति के साथ उसके व्यवसाय के आधार पर ही अनेक निर्योग्यताओं का भी सम्बन्ध होता है। शारीरिक श्रम करने वाली जातियों को नीचा समझा जाता है। सम्भवतः प्रारम्भ में जिन जातियों ने आपसी संघर्ष में दूसरी जातियों को विजित कर लिया होगा उन्होंने अपने लिये उच्च तथा विजित वर्ग के लिये निम्न कार्यों का किया जाना भी निर्धारित किया होगा। इस प्रकार मानसिक एवं शारीरिक भेद की ही यह स्थिति यहाँ तक बढ़ी कि केवल मस्तिष्क एवं जिह्वा का काम करने वाली ब्राह्मण जाति को श्रेष्ठ माना गया तथा उनकी तुलना में लिखने के रूप में शारीरिक काम करने वाले कायस्थों को नीचा समझा गया। इसी प्रकार जो निरा शारीरिक श्रम करते थे उनको और भी नीचा समझा गया। शारीरिक श्रम करने वालों में जो अधिक अस्वच्छ कार्य करते थे उनको और भी अधिक नीचा समझा गया। इस प्रकार के भेद के अनेक दुष्परिणाम हुये। इस भेद के फलस्वरूप ही अधिकाँश नीच काम करने वालों को अनेक सामाजिक अधिकारों, धार्मिक अधिकारों एवं सुविधाओं से वंचित कर दिया गया। छुआछूत का उद्‌भव भी इसी कारण से हुआ। शूद्रों अथवा अस्पृश्यों के लिये ये निर्योग्यतायें इतनी अधिक बढ़ गईं कि उनके सवर्णों के सामने आ जाने पर भी स्पर्श अपने आपको अशुद्ध मानने लगे। यहाँ तक कि अनेक अस्पृश्य जातियों के लिये सवर्णों से १५, २० या २५ कदम दूर रहने के विधान भी कर दिये गये। इसी प्रकार भारत के प्रायः समस्त भागों में ही शूद्रों को सवर्णों के कुओं से पानी भरने की अनुमति नहीं दी जाती है। अस्पृश्यता का सबसे भयंकर रूप दक्षिणी भारत में दिखाई दिया। यह निर्योग्यता केवल शूद्रों के ही सम्बन्ध में नहीं है, कहीं-कहीं ब्राह्मणों को भी अस्पृश्य एवं अछूत माना जाता है। परिया या होलये जाति के मुहल्ले से जाने वाले ब्राह्मण को मार खानी पड़ती थी, कभी-कभी तो प्राण देने पड़ते थे। इतना ही नहीं, ब्राह्मण के वहां से हटने के पश्चात् ये लोग गोबर से अपने गाँव और मुहल्ले की शुद्धि किया करते थे। कापुओं की येर्‌लम शाखा के लोग ब्राह्मणों का स्पर्श किया हुआ न अन्न ग्रहण करते हैं और न उनको अपने अनुष्ठानों में बुलाते हैं।[1]

---

१. शम्भूरत्न त्रिपाठी—भारतीय समाज-शास्त्र, पृष्ठ ४६।

इसी प्रकार के अनेकों प्रतिबन्ध धार्मिक संस्कारों को सम्पन्न करने तथा धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में थे। वेदों का अध्ययन ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कोई भी नहीं कर सकता था तथा शूद्रों का उपनयन संस्कार नहीं हो सकता था। मन्दिर के भीतरी भागों में केवल सवर्ण ही प्रवेश कर सकते थे, नीची जाति के लोग नहीं। अछूत तो मन्दिर के बाहरी भागों में भी प्रवेश नहीं कर सकते थे।

स्वतन्त्र भारत के संविधान में इस प्रकार की सभी निर्योग्यताओं को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया है किन्तु फिर भी व्यवहारिक जीवन में अब भी उनकी झलक प्राय: देखने को मिल जाती है। हाँ इतना अवश्य हुआ है कि कानून बन जाने से इन नीची जाति वालों ने भी अब अन्य वर्णों के समान ही अपनी स्थिति बनाने के लिए संघर्ष प्रारम्भ कर दिया है तथा धीरे-धीरे उनकी स्थिति सुधर भी रही है।

(७) **वर्ण व्यवस्था में बाहर के व्यक्ति अस्पृश्य**—प्रो० ए० आर० वाडिया का कहना है कि जो व्यक्ति चारों वर्णों के अन्तर्गत नहीं आते है उनको भी अस्पृश्य माना जाता है। इस प्रकार का यह नियम न्यूनाधिक रूप में मुस्लिम और अंग्रेज आदि सभी विजेताओं के साथ व्यवहार करने में प्रयोग में लाया गया और कभी-कभी विवशता में ही उनके साथ इस नियम को ढीला किया गया है।[1]

(८) **जाति और आर्थिक निर्योग्यतायें**—डा० श्रीमती इरावती कर्वे का कहना है कि जाति व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि जाति-व्यवस्था के संस्तरण के साथ आर्थिक असमानता भी सम्बन्धित है। नीची जातियों की आय कम होती है तथा उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियां भी निम्न कोटि की होती हैं। उनके रहने के स्थान बहुत साधारण और प्राय: बहुत अस्वास्थ्यकर होते हैं। वे प्राय: एक गांव से दूसरे गांव को जाते रहते हैं। उनके स्थायी काम की भी कोई व्यवस्था नहीं होती है। नीची जाति के लोग प्राय: काम न मिलने के कारण सवर्णों के कर्जदार बनते हैं तथा एक बार कर्जदार बनने पर उनका इस कर्ज से छुटकारा मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार नीची जाति के लोग सदा हीन अवस्था में सवर्णों के दास ही बने रहते हैं।

जाति-प्रथा की इन सब विशेषताओं के होते हुए भी आधुनिक विज्ञान के प्रादुर्भाव एवं अन्य अनेक महत्वपूर्ण कारणों से भारत में जाति-व्यवस्था के बन्धन शिथिल हो रहे हैं।

प्रश्न २६. जाति, वर्ग एवं वर्ण की तुलना कीजिए।

उत्तर—समाज में वर्ग मनुष्यों का एक ऐसा समूह है, जिसे समाज ने एक विशेष स्थान दिया है। वह स्थान व्यक्तियों की सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर

---

१. प्रो० ए० आर० वाडिया—सेमिनार आन कास्टइज्म एण्ड रिमूवल आफ अनटचेबिलिटी, पृ० २।

होता है। यह सामाजिक प्रतिष्ठा उनके रहन-सहन, आचार-व्यवहार तथा सामाजिक सुविधाओं के आधार पर दी जाती है। इसी प्रकार जब कोई वर्ग पूर्ण रूप से वंशानुगत हो जाता है, तो हम उसे जाति कहते हैं।[1] समाज का चार वर्णों में विभाजन आर्यों द्वारा किया गया था जिसका आधार व्यवसाय था।

वर्ग और जाति—वर्ग और जाति की तुलना करने पर निम्नलिखित भेद अनायास ही दृष्टिगोचर होते हैं—

१—जाति-प्रथा में मनुष्य जन्म से ही ऊंचा या नीचा हो जाता है। जिसका जन्म ब्राह्मण के घर पर हुआ हो, वह सदैव ब्राह्मण ही रहेगा तथा जो शूद्र के घर उत्पन्न हुआ है, वह आजन्म शूद्र ही रहेगा। दूसरी ओर वर्ग-प्रथा में ऐसा कोई नियम नहीं होता है। कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता, कुशलता, धन आदि के घटने या बढ़ने के आधार पर किसी भी समय ऊंचे या नीचे वर्ग में आ जा सकता है।

२—जाति-प्रथा में सदस्यों के आचरण तथा नैतिकता को नियन्त्रित करने के लिए पंचायत या समितियां होती हैं। इस प्रकार की पंचायतें या समितियाँ ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के अतिरिक्त प्रत्येक जाति में पायी जाती हैं। यदि कोई सदस्य जाति के निर्धारित नियमों के विरुद्ध कार्य करता है, तो उनके विरुद्ध जातीय संगठन कार्यवाही करते हैं। वर्ग-प्रथा में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं होती।

३—जाति-प्रथा में प्रत्येक जाति का सदल्य अपने परम्परागत पेशे का ही अनुसरण करता है। यद्यपि बिलकुल ऐसा न तो कभी हुआ है और न कभी होगा ही तथापि जाति-प्रथा का निर्देश ही कुछ ऐसा है। दूसरी ओर वर्ग-प्रथा में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वर्ग के सदस्य अपने पेशों का चुनाव करने में पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं।

४—जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति में दूसरी जाति के साथ खान-पान, विवाह, मेल-मिलाप आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध पाये जाते हैं किन्तु वर्ग-प्रथा में ये प्रतिबन्ध इतने कठोर नहीं पाये जाते। इन मामलों में विभिन्न वर्गों के सदस्य स्वतन्त्र होते हैं।

५—जन्म पर आधारित होने तथा जाति की सदस्यता के साधारणतया अपरिवर्तनीय होने के कारण जातीय सगठन में स्थिरता रहती है। अनेक नियमों एव प्रति-

---

१. डा० श्रीमती इरावती कर्वे—कास्ट इन माडर्न टाइम्स एण्ड सम मेजर्स टू कम्बैट इट्स ईविल्स, पृष्ठ ५८।

बन्धों के कारण भी जाति-प्रथा अधिक स्थिर होती है किन्तु वर्ग-प्रथा के आधार धन, पेशा, शिक्षा आदि होते हैं जो स्वयं ही बहुत अनिश्चित होते हैं । इसलिए वर्ग-प्रथा में स्थिरिता नहीं होती । इतना होते हुये भी वर्ग-प्रथा इतनी अस्थिर भी नहीं होती जिससे सामाजिक-व्यवस्था की लड़ी टूट जाये, फिर भी वर्ग-प्रथा जाति-प्रथा की अपेक्षा बहुत ही अस्थिर होती है ।

६—जाति-व्यवस्था में जाति की चेतना इतनी प्रबल होती है कि जाति का प्रत्येक सदस्य अपने नाम के आगे अपनी जाति का नाम जोड़ता है, अपनी जाति के रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं का गौरव के साथ पालन करता है तथा जाति के अनुशासन का पालन करने में सम्मान का अनुभव करता है । वर्ग में वर्ग-चेतना तो होती है, किन्तु उसमें जाति की तरह प्रबलता नहीं होती है । वर्ग के सदस्य जाति के सदस्यों की तरह अपने नाम के आगे वर्ग का नाम नहीं जोड़ते हैं । इसी प्रकार वर्ग के कोई परम्परागत रीति-रिवाज या अनुशासन के नियम भी नहीं होते हैं और यदि होते भी हैं तो वे उतने कठोर नहीं होते जितने जाति-प्रथा में ।

जहाँ जाति और वर्ग में इतनी असमानतायें हैं वहाँ अनेक समानतायें भी हैं । जाति प्रथा और वर्ग-प्रथा दोनों में ऊंच-नीच का भाव होता है । जिस प्रकार वैश्य अपने को ब्राह्मणों से नीचा तथा शूद्रों से ऊंचा समझता है, उसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था में भी एक मध्यम वर्ग का सदस्य अपने आपको उच्च वर्ग के सदस्यों से नीचा तथा निम्न वर्ग के सदस्यों से ऊंचा समझता है । जिस प्रकार एक जाति में आचरण-व्यवहार आदि के कुछ नियम होते हैं उसी प्रकार वर्गों में भी कुछ रीति रिवाज तथा परम्परायें होती हैं । जाति-व्यवस्था में अलग-अलग जातियों में कुछ सुविधायें होती हैं, जो किसी विशेष जाति के अन्तर्गत किसी दूसरी जाति के सदस्यों को प्राप्त नहीं होतीं । इसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था में भिन्न-भिन्न वर्गों के सदस्यों को कुछ निश्चित सुविधायें प्राप्त होती हैं तथा इन्हीं के अनुसार उन्हें कुछ काम करने पड़ते हैं, जैसे—उच्च श्रेणी के लोग शारीरिक परिश्रम कम करते हैं और जीवन की सुख-सुविधाओं का उपभोग अधिक करते हैं तथा निम्न श्रेणी के लोग शारीरिक परिश्रम अधिक करते हैं और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाते हैं ।

यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो जाति वर्ग का रूप ही है । इसलिए डा० मजूमदार ने जाति को अमुक्त वर्ग कहा है और कूले ने उसे अनुवंशिक वर्ग माना है ।

जाति और वर्ण—

वैसे तो जाति एवं वर्ण की अवधारणा समान ही प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। वर्ण और जाति में पर्याप्त अन्तर है। वर्ण के विषय में गीता में स्पष्ट लिखा है : "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुण कर्मविभागतः" ।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि वर्ण-विभाजन का आधार गुण एवं कर्म होते हैं। इसमें भी कर्म की ही प्रधानता है। प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था के मूल में यही भावना थी कि जो जिस वर्ण के कर्म करेगा वह उसी वर्ण का माना जायेगा। जन्म वर्ण का निर्णायक नहीं था। इसीलिये हमारे साहित्य में आज भी अनेक महापुरुषों के वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं। इसके विपरीत जाति एक प्रतिबन्धित वर्ग है, यह जन्म से ही निश्चित हो जाती है। और वर्ण में ऊंच-नीच का भेदभाव कठोर रूप से नहीं पाया जाता था परन्तु जातियों के बीच गम्भीर ऊंच-नीच की भावना पायी जाती है। इसी प्रकार जातिप्रथा में भोजन सम्बन्धी, विवाह सम्बन्धी तथा अन्य प्रतिबन्धों के होने से उसके जन्म पर आधारित होने के कारण जाति-प्रथा कठोर एवं बहुत कुछ स्थिर है; जबकि वर्ण-व्यवस्था पेशे, कर्म और गुण पर आधारित होने के कारण उतनी कठोर नहीं है और इसमें काफी खुलापन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जाति, वर्ण और वर्ग में काफी अन्तर है।

५

- वैदिक भारत का सामाजिक जीवन
- स्त्रियों का समाज में स्थान
- प्राचीन भारत का आर्थिक जीवन
- प्राचीन भारत में आर्यों की जीविका एवं यातायात के साधन
- प्राचीन भारत में वाणिज्य एवं व्यापार
- प्राचीन भारत में सिक्के

---

१. यह वाक्य कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करके कहा है। इसका तात्पर्य है : '(हे अर्जुन !) चार वर्णों की सृष्टि मैंने ही गुण एवं कर्म के आधार पर की है।'

प्रश्न २७. वैदिक भारत के सामाजिक जीवन के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—वैदिक काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है, प्रथम तो ऋग्वेद का रचना-काल तथा द्वितीय ऋग्वेद के पश्चात् का अन्य वैदिक-साहित्य का रचना-काल, जिसे उत्तर-वैदिक-काल भी कहा जाता है। वैदिक भारत के सामाजिक जीवन का भी इन दो शाखाओं के अन्तर्गत ही अध्ययन करना अधिक समीचीन होगा।

ऋग्वैदिक काल

ऋग्वैदिक काल में समाज अत्यधिक सुसंगठित था। सारा समाज परिवारों में विभाजित था। पिता ही परिवार का मुखिया माना जाता था। इस समय एक विवाह की प्रथा प्रचलित थी तथा बहु-विवाह की प्रथा का लोगों को ज्ञान भी न था। पति और पत्नी ही गृह के भी स्वामी एवं स्वामिनी होते थे। पति गृहपति या कुलपति होता था और पत्नी गृहस्वामिनी। पिता पुत्री के मध्य अथवा बहिन भाइयों के बीच विवाह सम्बन्ध कठोरतया वर्जित था। विवाह प्रौढ़ावस्था में ही सम्पन्न होते थे बाल्यकाल में नहीं। विवाहों में स्त्री और पुरुषों को अपना जीवन साथी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। लड़कियां अपने पिता के संरक्षण में रहती थीं तथा यदि उनके पिता की मृत्यु हो जाती तो अपने भाइयों के संरक्षण में रहती थीं।

विवाह के समय दहेज का प्रचलन था। वधू वर के द्वारा अपने धर पर ले जाई जाती थी तथा वहां उसे अपने श्वसुर, सास, देवर, जेठ, ननद आदि सभी से ऊंचा गृह-स्वामिनी का अधिकारपूर्ण एवं सम्मानित पद प्राप्त होता था। इस काल में विवाह विच्छेद किन्हीं भी दशाओं में सम्भव न था तथा विधवा विवाह का भी प्रचलन नहीं था, यद्यपि एक स्थान पर एक विधवा द्वारा अपने पति के निःसन्तान मर जाने पर अपने देवर से विवाह करने का उल्लेख भी अवश्य प्राप्त होता है।

पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र ही होता था पुत्री नहीं किन्तु यदि पिता के कोई पुत्र नहीं होता था तो उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी पुत्री ही होती थी। पुत्र को गोद लेने की प्रथा प्रचलित थी।

लोगों को सम्पत्ति रखने का अधिकार था। चल सम्पत्ति के रूप में वे गाय, बैल, घोड़े, स्वर्ण आभूषण तथा दास आदि रख सकते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य निजी तौर पर भूमि भी रख सकते थे। यह भूमि ठीक ठीक नपे हुये खेतों में विभाजित रहती थी और क्षेत्रों के बीच कुछ भूमि का भाग छोड़ा जाता था जिसे खिल्य कहते थे।

इस काल में समाज का विभाजन वर्णों में कर दिया गया था किन्तु यह वर्ण व्यवस्था किस प्रकार की थी तथा इसमें वर्णों की संख्या कितनी थी इस प्रकार का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद में केवल पुरुष सूक्त के एक मन्त्र में ही चारों वर्णों का वर्णन है किन्तु यह सूक्त अधिकांश विद्वानों द्वारा क्षेपक माना जाता है। अतः उसको प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में यहां कीथ की "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया" से कुछ उद्धरण देना उचित होगा। कीथ लिखते हैं—

"ऋग्वेद में एक शासक क्षत्रिय जाति की कथा है, यह निःसन्देह है, एवं वैदिक काल में राजपद वंशगत था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—इन तीन श्रेणियों में समाज विभक्त था, इसका उल्लेख मिलता है।"[1]

"इस पर विश्वास करने के यथेष्ट कारण हैं कि ऋग्वेदीय युग पौरोहित्य (ब्राह्मण) एवं अभिजात्य (क्षत्रिय) वंशानुक्रमिक था।"[2]

कुछ भी हो, ऋग्वेदीय भारत में समाज का विभाजन वर्णों में अवश्य हो गया था।

उत्तर वैदिक काल

उत्तर-वैदिक काल तक आते-आते वर्ण-व्यवस्था का स्थान पूर्ण रूप से विकसित जाति-व्यवस्था ने ले लिया था। इस समय तक व्यवसायों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो गई थी, क्योंकि अब लोगों में एक स्थान पर ही बसने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। इसके अतिरिक्त इस समय वंश-परम्परा को वर्णसांकर्य से बचाने के लिये तथा वर्णभेद की कठोरता के कारण भी जाति-व्यवस्था को बढ़ावा मिला फिर भी इस समय तक जाति व्यवस्था का रूप उतना कठोर एवं दृढ़ नहीं हो पाया था जितना कि यह सूत्रकाल तक आते-आते हो गया था। ऋग्वेदीय-काल में जहां केवल पिता-पुत्री एवं भाई-बहिन में ही आपस में विवाह में प्रतिबन्ध था वहां इस काल में तीसरी-चौथी पीढ़ी तक के भाई-बहिनों आदि में विवाह का सम्बन्ध निषिद्ध घोषित कर दिया गया था। इस काल में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नीची जातियों की कन्याओं से विवाह कर सकते थे, यहां तक कि शूद्र जाति की कन्या से भी।

जाति-परिवर्तन यद्यपि बहुत कम होता था तथापि वह उस समय असम्भव नहीं था। ऋग्वेद में जहां विश्वामित्र का वर्णन एक ऋषि के रूप में किया गया है वहां ऐतरेय ब्राह्मण में एक क्षत्रिय के रूप में। उपनिषदों में इस प्रकार के राजाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने ब्राह्मण शिष्यों को पढ़ाया था, जैसे मिथिला अथवा विदेह के राजा जनक, केकय के राजा अश्वपति, काशी के राजा अजातशत्रु तथा पाञ्चाल के राजा प्रवाहण जैवालि। इस प्रकार के उदाहरणों से जाति का परिवर्तन सिद्ध नहीं होता वरन् केवल व्यवसायों का परिवर्तन ही सिद्ध होता है। इन उदाहरणों से इतना अवश्य पता चलता है कि कुछ राजा प्रगाढ़ पण्डित तथा विद्या के अनन्य उपासक होते थे किन्तु फिर भी सारे वैदिक-साहित्य में किसी भी वैश्य का ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जो ब्राह्मण या क्षत्रिय हुआ हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का जाति में परिवर्तन सम्भवतः ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों तक ही सीमित था।

---

१. कीथ—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ ९३—९४।
२. वही पृष्ठ १२६।

ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर जाति-प्रथा किस प्रकार से विकसित हो रही थी इसका अच्छा निरूपण किया गया है। यहां पर ब्राह्मण को दान ग्रहण करने वाला, सोमपान करने वाला, सदैव अपनी इच्छानुसार भ्रमण करने वाला तथा राजाओं तक के पास अपनी इच्छानुसार गमन करने वाला बताया गया है। वैश्य को दूसरे को (अर्थात् राजा को) कर देने वाला कहा गया है, सारा समाज उस पर निर्भर रहता है तथा वह किसी समय (राजा के द्वारा) दबाया जा तकता है अर्थात् राजा की इच्छानुसार उसकी भूमि आदि का अपहरण किया जा सकता है। शूद्र दूसरों का सेवक है, उसको इच्छानुसार सेवा आदि के कार्य से अलग किया जा सकता है तथा इच्छानुसार उसकी हत्या तक की जा सकती है, इसका तात्पर्य यही होता है कि शूद्र को क्षत्रिय अथवा राजाओं से जीवन के संरक्षण अथवा सम्पत्ति रखने आदि के कोई अधिकार न थे।

इस अंश से यह भली प्रकार पता चलता है कि ब्राह्मण उस समय धार्मिक-क्रियाओं आदि के सर्वेसर्वा थे। इससे यह भी पता चलता है कि वैश्यों को भूमि का अधिकार केवल उसी दशा में मिल सकता था जबकि भूमि का लगान अथवा कर दे। कर अथवा लगान देकर ही कोई वैश्य राजाओं से अपनी भूमि के लिये संरक्षण प्राप्त कर सकता था। एक प्रकार से क्षत्रिय अथवा जागीरदार भूमि के स्वामी थे तथा वैश्य उनके करदाता थे। इस प्रकार उत्तर वैदिक-काल में समाज में वर्ण-व्यवस्था पूरी तरह से विकसित हो गई थी। यही उत्तर-वैदिक-काल की सामाजिक-दशा की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है।

प्रश्न २८. प्राचीनकालीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति का वर्णन कीजिए।

उत्तर—अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतीय समाज में पुरुष एवं स्त्री को जीवन रूपी रथ के दो पहिये माना गया है। जिस प्रकार दोनों पहिये रथ की गति के लिये आवश्यक हैं उसी प्रकार मानव जीवन के लिये स्त्री एवं पुरुष दोनों की समान महत्ता है। किसी एक के अभाव में जीवन लंगड़े मनुष्य के समान है। इसी कारण स्त्री को पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी कहा गया है। दूसरे शब्दों में पुरुष और स्त्री पारिवारिक जीवन के दो पहलू हैं।

पारिवारिक जीवन का उत्तरदायित्व दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर एवं वाह्य। पारिवारिक सुख शान्ति के लिये यह आवश्यक है कि इन दोनों प्रकार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह सुचारू रूप से किया जाय। इसी दृष्टि से पुरुष एवं स्त्री को उनकी प्रकृति के अनुकूल उत्तरदायित्व सौंपा गया है। परिवार का जीवन सुख शान्तिमय बनाने का उत्तरदायित्व स्त्री का है एवं तदर्थ साधन जुटाने का कार्य पुरुष का। अतः एक दूसरे के बड़े या छोटे होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

प्राचीन काल में स्त्री को गृहस्थी में उचित सम्मान प्राप्त था। दुहिता, पत्नी या माता के रूप में वह सर्वथा सम्मान की भाजन थी। ऋग्वेद में 'जयेदमस्तम्'—

जाया ही घर है, ऐसा कहा गया है। गृहस्वामिनी होने के कारण परिवार सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में उसकी सम्मति आवश्यक थी और उस सम्मति का आदर भी होता था। उसे गृहलक्ष्मी कहा जाता था। लक्ष्मी और उसमें कोई भेद नहीं था—'स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु विशेषोऽस्ति कश्चन'। गृहिणी होने के साथ-साथ वह माता भी थी। माता समाज के सर्वोच्च आदर्शों की साक्षात् मूर्ति है। वह अपने लिये जीवित नहीं रहती किन्तु अपने परिवार के लिये जीवित रहती है। माता इस बात का पूरा प्रयत्न करती थी उसकी सन्तान दृढ़-निश्चयी, वीर, धार्मिक एवं अपने आदर्शों के लिये मर मिटने वाली हो। यही कारण है कि हमें ध्रुव, प्रहलाद, राम, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण जैसी अनेकानेक विभूतियों के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में स्त्री के माता रूप को सबसे अधिक मान दिया गया है। दीक्षान्त उपदेश में सर्वप्रथम स्थान माता को दिया जाता है—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।' याज्ञवल्क्य स्मृति में माता गुरु, आचार्य, उपाध्याय व ऋत्विक इन सबसे बड़ा माना गया है। गृहिणी एवं माता होने के साथ-साथ वह अपने पति की सहचरी थी। पति पर उसका पूर्ण अधिकार था।

विवाह के पश्चात् ऐसा कोई भी पारिवारिक कृत्य नहीं था जिसमें स्त्री पुरुष के साथ न रहे। कोई धार्मिक अनुष्ठान बिना स्त्री की उपस्थिति के सम्पन्न नहीं हो सकता था। इसीलिये अपत्नीक (व्यक्ति) यज्ञ के अधिकार से वञ्चित था। राम को इसी कारण यज्ञ में सीता की सोने की प्रतिमा का निर्माण करना पड़ा था। पारिवारिक जीवन में जो स्थान भारतीय स्त्रियों को प्राप्त था वह संसार के किसी अन्य देश की स्त्रियों को आज तक प्राप्त नहीं हुआ। कालीदास की निम्नलिखित पंक्ति में स्त्री के महत्व का सुन्दर चित्रण किया गया है—

'गृहणी सचिवः सखी मित्रः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।' अर्थात् गृहिणी, सचिव, सखी व ललितकला सीखने में तू मेरी प्रिय शिष्या थी।

स्त्रियों का जीवन केवल परिवार तक ही सीमित न था। पुरुषों की ही भांति उनका भी वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन था। उन्हें वेद पढ़ने व उपनयनादि संस्कारों द्वारा सुसंस्कृत बनने का पूर्ण अधिकार था। स्त्रियां अपने पतियों के साथ वानप्रस्थ आश्रम में भी प्रवेश करती थीं और इस प्रकार आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होती थीं।

प्राचीनकाल की भारतीय सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की थी कि स्त्रियों को अपना सर्वाङ्गीण विकास करने के पूर्ण अवसर उपलब्ध थे। उन पर किसी प्रकार अत्याचार किया जाना सम्भव न था। उनकी शिक्षा का यथोचित प्रबन्ध किया गया था। स्त्रियों के लिये कुछ गुरुकुल अलग थे जिनमें स्त्रियां ही अध्यापन कार्य किया करती थीं जिन्हें उपाध्यायानी कहते थे। 'उत्तररामचरित' में गुरु के आश्रम में पुरुषों के साथ भी स्त्रियों के अध्ययन का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि लड़कियों को गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन एवं वेदाध्ययन करना पड़ता था।

उसके उपरान्त ही उनको विवाह का अधिकार प्राप्त होता था—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत के द्वारा (अर्थात् उस आश्रम को समाप्त करने के पश्चात्) कन्या युवा पति को प्राप्त होती है। कन्याओं को सुयोग्य वधू बनाने के लिये उन्हें ललित-कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी।

प्राचीनकाल में इसी उदात्त शिक्षा के कारण स्त्रियों ने आश्चर्यजनक उन्नति की। इन्हीं में से अनेक मन्त्रों का दर्शन करने वाली ऋषिकायें हुयीं। विश्वारात्रेयी, सिकतानिवावरी, यमीवैवस्वती, घोषाकाक्षीवती आदि ऋषिकाओं के मन्त्र आज भी ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में भी स्त्रियों ने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया था। दर्शनशास्त्र के इतिहास में गार्गी एवं मैत्रेयी के नाम सुवर्णाक्षरों में अङ्कित किये जाने के योग्य हैं। गार्गी ने राजा जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य से ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ किया था और याज्ञवल्क्य की स्त्री मैत्रेयी ने ब्रह्मविद्या के आगे धन और सम्पत्ति को त्याग दिया था। मण्डन मिश्र की पत्नी ने अपने पति एवं शंकराचार्य के बीच हुये शास्त्रार्थ की मध्यस्थता की थी। मदालसा ने अपने पुत्र अलक को राजनीति सम्बन्धी बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया था, 'हे पुत्र! राजा को पहले कामादि को जीतना चाहिये, उन पर जय प्राप्त कर लेने पर ही वह विजयी होता है, अन्यथा स्वयं नाश को प्राप्त होता है।' (तस्मात् कामादयः पूर्व जेया पुत्र महीभुजा। तज्जयैर्हि जयोढवश्यं राजा नश्यति तर्जितः॥) आवश्यकता आने पर स्त्रियों ने अपने क्षात्र-तेज का भी प्रदर्शन किया था। प्राचीनकाल में रानियां भी राजाओं के साथ युद्धक्षेत्र में जाया करती थीं। युद्धक्षेत्र में कैकेयी द्वारा राजा दशरथ के प्राणों को बचाने की कथा तो सर्वप्रसिद्ध ही है। मध्यकालीन स्त्रियों—रानी पद्मावती, दुर्गावती, लक्ष्मीबाई आदि—ने भी अपनी वीरता द्वारा भारतीय समाज एवं साहित्य में अमरता प्राप्त की थी।

प्राचीनकाल में स्त्रियों को विवाह के सम्बन्ध में भी पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। वे अपनी रुचि के अनुकूल पति का वरण कर सकती थीं। विवाह युवक एवं युवती का होता था। बालविवाह की प्रथा उस समय नहीं थी। असमान विवाह वर्जित थे। नियोग एवं विधवा-विवाह की प्रथा का प्रचलन था। तथापि वह आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सती प्रथा भी उस समय प्रचलित थी यद्यपि शास्त्रों में इस प्रकार की कोई आज्ञा नहीं है। विवाह के समय स्त्री भी पति के साथ वचन लेती थी और तब उसकी पत्नी होना स्वीकार करती थी। यह आय-व्यय, क्रय-विक्रय में सलाहकार बनने, देश विदेश की यात्रा में साथी बनने और पति द्वारा परस्त्री का सेवन न करने का वचन करवाती थी। विवाह के होने पर स्त्रियां अपने पति के सम्पूर्ण गुणों एवं पदों की अधिकारिणी बन जाती थीं। अक्षमाला एवं शारङ्गी नीच जाति में होते हुये भी क्रमशः वशिष्ठ एवं मन्दपान से संयोग के कारण ऊंची उठीं एवं प्रशंसा का भाजन बनीं।

प्राचीन काल की स्त्रियां पतिव्रत धर्म को अपनाने वाली होती थीं। उनके लिये उनका पति ही सब कुछ था। प्राचीन भारतीय गार्हस्थ्य सौख्य का रहस्य इसी पातिव्रत्य व दाम्पत्य प्रेम में निहित है। उस समय की स्त्रियां आदर्श गृहणी, आदर्श माता एवं आदर्श सहचरी बनने में ही अपना गौरव समझती थीं। वे जानती थीं कि उनका क्षेत्र पुरुषों के क्षेत्र से अलग है। अतः पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने की कल्पना ही उनके मस्तिष्क में नहीं आती थी। वे अपने सभी पारिवारिक कर्त्तव्यों को पूर्णतः निबाहती थीं। इसीलिये मनु ने कहा था—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।

(जहां स्त्रियां पूजित होती हैं वहां देवता निवास करते हैं। जहां इनका आदर नहीं होता वहां सब क्रियायें निष्फल होती हैं।)

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यस्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा।।

(जहां स्त्रियां दुःखी रहती हैं वह वंश शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है। जहां ये दुःखी नहीं रहतीं वह कुल वृद्धि को प्राप्त होता है।)

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।

(जिस कुल में पत्नी से पति व पति से पत्नी सदा सन्तुष्ट है वहां निश्चित रूप से कल्याण का निवास होता है।)

स्त्रियों के प्रति—'स्त्रीशूद्रोनाधीयताम्' इस प्रकार की मनोवृत्ति सामाजिक पतन के पश्चात् प्रारम्भ हुई। जैसे-जैसे धार्मिक बन्धन शिथिल होते गये, यज्ञ और दैनिक होम आदि कृत्यों का लोप होता गया, वैसे-वैसे रमणी भोग्या बनती गई। प्राचीन काल में स्त्री को पूजनीया समझा जाता था और पुरुष के पहले उसे स्थान मिलता था। जब स्त्री और पुरुष दोनों का नाम साथ लिया जाता है तब स्त्री का ही नाम पहले रहता है जैसे सीताराम, राधेकृष्ण, गौरीशंकर इत्यादि। यद्यपि इस प्रकार नामोच्चारण की प्रथा का कोई विशेष महत्व नहीं है, किन्तु फिर भी यह इस बात की सूचक अवश्य है कि समाज में स्त्री आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। जब तक स्त्री पुरुष दोनों ही सुखी नहीं रहते तब तक परिवार सुखी नहीं हो सकता और परिवार के सुखी न होने पर समाज किसी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता। प्राचीन काल के समाज की आश्चर्यजनक उन्नति यह सिद्ध करती है कि उस समय स्त्रियों को समाज में समुचित स्थान दिया जाता था।

प्रश्न २९. प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन सदैव एक सा नहीं बना रहा है।

यह समय-समय पर बदलता रहा है। अतः सुविधा की दृष्टि से इसका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

१. ऋग्वेद-काल या पूर्व-वैदिक काल
२. उत्तर-वैदिक काल
३. सूत्र एवं स्मृति-काल तथा
४. सूत्र एवं स्मृति-काल से बाद का काल

इन सब कालों के आर्थिक जीवन का स्वरूप सर्वथा भिन्न था। इसीलिये इसके अध्ययन की आवश्यकता भिन्न-भिन्न कालों के अन्तर्गत होती है।

ऋग्वेदीय काल

इस काल में आर्थिक-जीवन पशुधन पर ही केन्द्रित था। बैल, घोड़े, भेड़, बकरी, गधे, कुत्ते आदि ही पशुधन थे। बैल हल चलाते थे, घोड़े गाड़ी खींचते थे तथा दौड़ों में भी दौड़ाये जाते थे। कुत्ते का उपयोग शिकार के लिये, पशुओं के पीछे जाने तथा उनकी रक्षा के लिये एवं रात्रि में घर की रखवाली करने के लिये होता था।

पशु जिन मैदानों में चरते थे उन्हें गोष्ठ कहा जाता था। पशुओं को चराने वाले गोपाल कहलाते थे जिनका कर्त्तव्य पशुओं को क्षत-विक्षत होने, गड्ढे में गिरने तथा चुराये अथवा खोए जाने से बचाना था। पशुओं के कानों पर स्वामी का नाम लिख दिया जाता था।

ऋग्वेदीय काल में कृषि का अत्यधिक महत्व था। हल से जोती जाने वाली भूमि उर्वरा या क्षेत्र कहलाती थी। खेती में खादों के उपयोग का भी उल्लेख मिलता है। कुंओं तथा झीलों से सिंचाई होती थी। उस समय रहट का उपयोग, जिसमें पत्थर के चक्र पर बाल्टियां घूमती थीं, किया जाता था। यव एवं धान्य नामक अनाजों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त खेती के शत्रुओं, कीड़ों, चिड़ियों आदि का वर्णन प्राप्त होता है। धन के रूप में गाय-बैल, घोड़े आदि पशुओं तथा अच्छे पुत्रों की गिनती की जाती थी। भोजन, विनोद एवं अपने पशुओं आदि की रक्षा करने के लिये शिकार भी खेला जाता था। अनेक हस्तकला के कार्य होते थे जैसे बढ़ईगीरी, सुनारी, चमारगीरी, लुहारगीरी आदि।

कुछ स्थानों पर वणिक् अर्थात् व्यापारी का भी उल्लेख मिलता है। वस्तुओं का विनिमय होता था, उदाहरणस्वरूप एक स्थान पर इन्द्र की एक मूर्ति का मूल दस गौवें आँकी गई हैं। ऋण भी लिया जाता था किन्तु अधिकाँशतः यह जुए में हार जाने के कारण ही लिया जाता था। समुद्रों के द्वारा भी व्यापार होता था। इस प्रकार के अनेक उल्लेख ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं।

उत्तर वैदिक-काल

इस समय तक आते-आते कृषि आदि में पर्याप्त उन्नति हो गई थी। इस समय हल इतने अधिक बड़े एवं भारी बनने लगे थे कि उनको खींचने के लिये चौबीस बैलों तक की आवश्यकता पड़ती थी। गोबर का खाद के रूप में उपयोग किया जाने लगा था। इस समय व्रीहि (चावल), यव, माश (उड़द), तिल, मसूर आदि की खेती बहुतायत से होती थी। इन सब अनाजों के बोने के लिये भिन्न-भिन्न समय भी निश्चित थे। एक वर्ष में दो फसलें होती थीं।

उद्योग एवं व्यवसायों के क्षेत्र में भी इस काल में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। मछवे, हल बनाने वाले, धोबी, नाई, कसाई, सम्वाद-वाहक तथा टोकरियों-रस्सियों आदि के बनाने वालों के रूप में अनेक व्यवसायों का उद्‌भव एवं विकास इसी काल में हुआ। वास्तु-कला में भी काफी उन्नति हुई थी। एक स्थान पर १०८०० ईंटों से पंख फैलाये हुये पक्षी के आकार की अग्नि शरण का उल्लेख मिलता है। व्यापारी के लड़कों के अर्थ में 'श्रेष्ठ' शब्द का भी यथेष्ट प्रयोग हुआ है। स्त्रियां भी पेशस्करी, कण्टकीकरी आदि के रूप में कार्य करती थीं।

इस समय अनेक धातुओं के प्रयोग का वर्णन भी प्राप्त होता है जैसे हिरण्य (सोना), अयस् (लोहा या काँसा', लोह (तांबा), सीसा तथा त्रपु (टीन)। चांदी का प्रयोग आभूषणों एवं सिक्कों आदि के बनाने में किया जाता था। सोना सिन्धु आदि नदियों के किनारों की रेत से निकाला जाता था तथा इसके अनेक उपयोग होते थे। सोना भूमि से भी निकाला जाता था तथा कच्ची धातु को गलाकर स्वर्ण निकाला जाता था। सोने के अनेक भारों का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिससे प ा चलता है कि उस समय सोने के सिक्के भी प्रचलित रहे होंगे।

इस समय लोगों ने हाथी का पालना भी सीख लिया था तथा हाथी पालने वाले को हस्तिप कहा जाता था।

सूत्र तथा स्मृति-काल

इस काल में भी आर्थिक जीवन के सभी क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति हुई थी। इस समय जानपदी-वृत्ति के (अर्थात् वेतन आदि लेकर अपना भरण-पोषण करने वाले) लोगों का भी उल्लेख मिलता है। सेवा करने वाले व्यक्ति अध्यक्ष तथा युक्त कहलाते थे। शास्त्रों के व्यवसाय का भी इस समय वर्णन मिलता है। इस काल में क्रय-विक्रय एवं ऋण व्यवस्था का भी प्रचलन था। एक स्थान पर ऋण पर दस प्रतिशत ब्याज होने का उल्लेख पाया जाता है। कृषि के क्षेत्र में भी इस काल में विशेष उन्नति हो चुकी थी। उस समय बीज एवं भूमि के गुणों का विवेचन होने लगा था। अन्य अनाजों के साथ-साथ गन्ने की खेती का भी प्रादुर्भाव हो चुका था। क्षीरवृत्ति (अर्थात् दूध एवं दूध से बनी हुई चीजों का कार्य) भी प्रारम्भ हो गई थी। उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भी विशेष उन्नति हो गई थी। इस काल के साहित्य में कारुक, शिल्पी तथा

यन्त्र-प्रवर्तकों का अनेक स्थानों पर वर्णन हुआ है। अनेक उद्योग-धन्धों का भी विशद विवरण यहां प्राप्त होता है।

व्यापार के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। राज्य द्वारा व्यापारियों से राय लेकर वस्तुओं के भाव नियुक्त किये जाते थे। भाव नियत करते समय आगम, निर्गम, स्थान तथा मांग एवं पूर्ति का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। इनके अतिरिक्त व्यापारियों के समूहों (Syndicates of Traders) का भी उल्लेख मिलता है जो बाजार तथा उसमें होने वाले लेन-देन पर पूरा नियन्त्रण रखते थे। समुद्र के द्वारा भी व्यापार होता था किन्तु समुद्र यात्रा के किराये नियत न थे क्योंकि समुद्र की दूरियां नापी नहीं जा सकती थीं। निर्यात का व्यापार राज्य के द्वारा नियन्त्रित होता था। व्यापार में चुंगी आदि अनेक प्रकार के कर भी लगाये जाते थे जिन्हें सामान्यतया शुल्क कहा जाता था। शुल्क चीजों के बेचने एवं खरीदने के भावों के अनुसार लगाये जाते थे।

इस काल में सोने, चांदी एवं तांबे की मुद्रायें (सिक्के) चलती थीं। सोने के सिक्के सुवर्ण कहलाते थे। इसके अतिरिक्त दूसरे सिक्के कृष्णल, रोप्य-माष, धारण, शतमान, पण आदि भी चलते थे। सबसे छोटा सिक्का १/८ पण का होता था। सेवकों को प्रतिदिन १ से लेकर ६ पण तक मिलते थे। सोना, चांदी, तांबा, कांसा, लोहा, टीन आदि धातुयें खानों से निकाली जाती थीं। पत्थर की शिलाओं (उपल) का भी प्रयोग होता था। बहुमूल्य हीरे आदि भी खानों से निकाले जाते थे।

सूत्र एवं स्मृतिकाल के बाद का काल

इस काल के आर्थिक जीवन का ज्ञान हमें बौद्ध ग्रन्थों— विनय-पिटक, सुत्त-पिटक एवं जातकावलियों तथा जैन-ग्रन्थों—आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन तथा अन्य सूत्रों से प्राप्त होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इस समय की स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस काल में निवास स्थानों, ग्रामों एवं नगरों आदि का अच्छा विकास हो गया था। उत्तराध्ययन-सूत्र (३०-१५-१८) में इस प्रकार के अनेक विवरण प्राप्त होते हैं। घर, रथ्या, वाट (उद्यान), आश्रम (सन्यासियों के), विहार (बौद्धों के), सन्निवेश (बड़ी यात्राओं अर्थात् जुलूसों आदि के विश्रामस्थल), समाज (यात्रियों के ठहरने के स्थान), घोष (गोपालों के केन्द्र), स्थल-सेनास्कन्धावार (ऊंचे स्थान पर सेना के रहने के स्थान) सार्थ (बैल, ऊंट आदि पर यात्रा करने वालों के लिये ठहरने के स्थान), ग्रामा पल्ली (जंगली जातियों के रहने के स्थान), खेट (मिट्टी की दीवार से परिवृत स्थान) आदि इसी प्रकार के अन्य स्थलों एवं नगरों आदि के नामों का उल्लेख इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

इस काल में कला एवं शिल्पों में भी उन्नति हो गई थी। जातकों में स्थान-स्थान पर अठारह प्रमुख हस्तोद्योगों का उल्लेख पाया जाता है जिनमें से कुछ ये थे, लकड़ी का काम, विभिन्न धातुओं का काम, चमड़े का काम, चित्रकारी का काम आदि। वैभव की विविध प्रकार की गाड़ियां, रथ तथा जलयान तैयार होने लगे थे। इसके अतिरिक्त हाथी-दांत के, वस्त्र बुनने के, आभूषण बनाने के तथा बहुमूल्य धातुओं के, मिट्टी के, धनुर्वाण बनाने के, मालाओं तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों में भी पर्याप्त प्रगति हो गई थी। कुछ ग्रामों में कुछ विशेष-उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण भी होने लगा था जैसा कि कुम्हारों के गांव, बढ़इयों के गांव आदि के उल्लेख से ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त नगरों में कुछ गलियां भी विशेष उद्योग-धन्धे के लिये प्रसिद्ध हो जाती थीं जैसे बनारस में हाथी दांत का काम करने वालों की गली।

देश एवं विदेश दोनों से ही खूब व्यापार होता था। समुद्र के द्वारा विदेशों से व्यापार होने का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। दक्षिणी भारत का कावेरी-पत्तन (एक बन्दरगाह) इस व्यापार के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध था।

देश के अन्दर का व्यापार बैलगाड़ियों अथवा ऊंटों अदि के द्वारा होता था। देश भर में अनेक प्रमुख एवं अप्रमुख भागों का होना भी विभिन्न ग्रन्थों से ज्ञात होता है। नदियों में नौकाओं के द्वारा भी माल देश के एक भाग से दूसरे भाग को पहुँचाया जाता था। धान्यों की बिक्री नगर के अन्दर न होकर नगर-द्वारों पर स्थित बाजारों में होती थी। नगर के अन्दर अन्य सामग्रियों की दुकानें एवं बाजार होते थे। मूल्य कानूनों द्वारा नियत नहीं किये जाते थे वरन् मांग एवं पूर्ति तथा प्रतियोगिता आदि के द्वारा निश्चित होते थे। विभिन्न वस्तुओं पर विभिन्न प्रकार के कर भी लगते थे जो प्रायः वस्तुओं के मूल्य के बीसवें भाग से अधिक नहीं होते थे। वस्तु-विनियम सिक्कों के अधिकाधिक प्रचलन के साथ समाप्त हो रहा था। समय तथा स्थान के अनुसार सिक्कों के मूल्यों में परिवर्तन होते रहते थे। ऋण देने एवं लेने का काफी प्रचलन हो गया था तथा इसने भी एक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया था। साझे के कार्यों का भी प्रादुर्भाव इस काल में हो गया था। लोग काफी संख्या में मिलकर किसी बड़े व्यवसाय को संगठित करने लगे थे।

इसके अनन्तर भी गुप्त-काल से लेकर महाराज हर्षवर्धन के समय तक भारत की आर्थिक उन्नति निरन्तर होती रही। इतिहास इस बात का साझी है कि यह ही भारत का स्वर्ण-युग था। इस काल में अनेक चीनी यात्री इस देश में आये जिनके विवरणों से पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष अत्यन्त समृद्धिशाली था। यदि कभी-कभी देश के किसी कोने में दुर्भिक्ष आदि की आपत्तियां भी आती थीं तो उनके लिये भी राज्य की ओर से अतीव सुव्यवस्थित प्रबन्ध था। उस समय भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया आत्म-निर्भर एवं समृद्ध था और इसी कारण भारत में कला एवं साहित्य की इतनी अधिक उन्नति हो सकी। आज भी हमारा प्राचीन साहित्य

एवं देश के विभिन्न भागों में फैली हुई कला-कृतियां भारत के इस वैभव की स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा कर रही है।

प्रश्न ३०. प्राचीन भारत में विद्यमान व्यापार और वाणिज्य का संक्षिप्त उल्लेख कीजिये।

उत्तर—भारत में व्यापार का समारम्भ ऋग्वेद काल में हो चुका था। उस समय सिक्कों का प्रचलन न था इसलिये वस्तुओं की अदला-बदली अर्थात् विनिमय करके काम चलाया जाता था। एक मंत्र में दस गौओं के बदले में एक इन्द्र की प्रतिमा लेने का उल्लेख किया गया है। इस समय व्यापारी को वणिक् और व्यापार को वाणिज्य कहा जाता था। किसी वस्तु का मूल्य या सौदा एक बार तय हो जाने पर उसमें कोई कमी-वेशी नहीं हो सकती थी। आन्तरिक ही नहीं उस समय विदेशों से भी जलपोतों द्वारा व्यापार प्रचलित था। इस समय की एक कहानी में भुज्यु के जहाज के समुद्र में टूट जाने का उल्लेख पाया जाता है जिससे उस समय जल पोतों के होने का प्रमाण मिलता है।

वेदकाल के बाद क्रय-विक्रय के लिये दूकानदारी की प्रथा प्रचलित हो गई थी और रुपये का लेन-देन व्याज पर होने लगा था। इस काल तक आते-आते नगद लेन-देन एवं वस्तु-विनिमय की प्रथा भी पूर्णरूपेण प्रचलित हो चुकी थी। इसी समय आयात-निर्यात, भणसाल की अवधि, माल की मांग-पूर्ति आदि का विचार करके वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण भी किया जाने लगा था। इस समय क्रय-विक्रय एवं उसके व्यवहारों पर नियन्त्रण करने के लिये व्यापारिक-संगठनों का भी आविर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त माल में मिलावट, नाप-तोल में छल-कपट और दूसरी धोखाधड़ियों के लिये दण्ड की व्यवस्था भी इसी समय की गई।

क्रय-विक्रय के लिये विभिन्न वस्तुयें एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जाती थीं और कभी-कभी इनको ले जाने के मार्ग गहन वनों एवं जलीय प्रदेशों में से भी जाते थे। उस समय जल द्वारा व्यापार भी प्रचलित था। नावें माल को इधर से उधर ले जाती थीं और दूरी के हिसाब से तथा भार के हिसाब से भाड़ा लेती थीं। इस प्रकार के समुद्री व्यापार में कोई दरें निश्चित न थीं। कभी-कभी जब नौचालन सम्बन्धी असावधानी से माल की हानि हो जाती थी तो उसकी क्षतिपूर्ति प्रवहण के स्वामी को करनी पड़ती थी लेकिन जब कुछ अनिवार्य कारणों से इस प्रकार की हानियां होती थीं तो उनका उत्तरदायित्व प्रवहण के स्वामियों पर नहीं होता था। प्रवहण के इन संचालकों के बीच अपनी-अपनी पूंजी के अनुसार हानि-लाभ के बंटवारे के आधार पर साझे का व्यापार भी प्रचलित था।

उस समय के निर्यात-व्यापार का नियमन राज्य करता था। कुछ मालों के व्यापार का राज्य को एकाधिकार होता था और कुछ चीजों का निर्यात निषिद्ध भी था। यदि कोई व्यापारी राज्य की अनुमति लिये बिना इन वस्तुओं का निर्यात करने का प्रयास

करता था तो उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। जिस माल की दूसरे देशों में कमी होती थी उसका निर्यात भी सीमित कर दिया जाता था।

इस समय व्यापार पर शुल्क या चुंगी की व्यवस्था का भी समारम्भ हुआ। शुल्क लगाने के लिये शुल्काध्यक्ष होते थे और वाणिज्य के यातायात के सभी स्थलीय मार्गों पर चुंगी चौकियाँ होती थीं जहां शुल्क लिया जाता था। राज्य की ओर से कुछ शौल्कशालिकों की भी नियुक्ति की गई थी जो रात्रि के समय भी माल की जांच-पड़ताल करते थे। शुल्क का निश्चय व्यापारियों के परामर्श से क्रय-विक्रय के भाव, माल ले जाने की दूरी, प्रधान एवं अप्रधान मूल्यों एवं रास्ते के खतरों आदि के आधार पर किया जाता था। शुल्क के आधार पर राज्य और व्यापारी दोनों को लाभ का उचित अंश मिलता था।

इसी काल में राज्य द्वारा व्यापारियों से राय लेकर वस्तुओं के भाव नियत किये जाने का भी उल्लेख मिलता है। भाव नियम करते समय आगम, निर्गम, स्थान तथा मांग एवं पूर्ति का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था।

इस भारत का वाणिज्य देश और विदेश दोनों में ही खूब उन्नत हो चुका था। नल-दमयन्ती संवाद में विविध प्रदेशों के रास्तों के मिलन-स्थलों का भी उल्लेख मिलता है। दमयन्ती स्वयं एक व्यापारियों के काफिले के साथ-साथ ही विराट नगर पहुँच सकी थी। उस समय सार्थ एवं सार्थवाह का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत में उल्लेख आया है कि काशी एवं अयोध्या में अनेक देशों के व्यापारी थे और वहाँ के बाजारों में अनेक प्रकार की वाणिज्य की वस्तुयें उपलब्ध थीं। सार्थ एवं सार्थवाहों का समुद्री तटों तक आवागमन होता था।

उत्तर वैदिक काल के सूत्रस्मृति काल तक आते-आते सोने, चांदी एवं ताँबे के सिक्कों का प्रचलन हो चुका था। सोने के सिक्कों को सुवर्ण कहा जाता था। इसके अलावा दूसरे सिक्के कृष्णल, रौप्य, माष, धरण, शतमान, पण आदि भी चलते थे। सबसे छोटा सिक्का १।८ पण का होता था। सेवकों को प्रतिदिन १ से लेकर ६ पण तक मिलते थे।

इस समय तक आते-आते पोत-वणिजों के व्यापार में भी काफी प्रगति हो चुकी थी। बौद्ध-जातकों में जहाजों के निम्न अंगों का उल्लेख मिलता था। उस समय पशु-पक्षी भी यहां से ले जाए जाकर विदेशों में बेचे जाते थे। चीन से रेशम और कम्बोज से घोड़े यहां आकर बिकते थे। उस समय सुमात्रा, बाली, जावा और लंका से भारत में यथेष्ट व्यापार चलता था।

सूत्र एवं स्मृति-काल से बाद के काल में देश के अन्दर का व्यापार बैलगाड़ियों एवं ऊंटों आदि के द्वारा होने का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में पाया जाता है। देश भर में अनेक प्रमुख एवं अप्रमुख मार्गों का होना भी विभिन्न ग्रन्थों से ज्ञात होता है। धान्यों की बिक्री नगर के अन्दर न होकर नगर द्वारों पर स्थित बाजारों में होती थी।

नगर के अन्दर अन्य सामग्रियों की दूकानें एवं बाजार होते थे। मूल्य कानूनों द्वारा नियत नहीं किये जाते थे वरन् मांग एवं पूर्ति तथा प्रतियोगिता आदि के द्वारा निश्चित होते थे। विभिन्न वस्तुओं पर विभिन्न प्रकार के कर भी लगाये जाते थे जो प्राय: वस्तुओं के मूल्य के बीसवें भाग से अधिक नहीं होते। सिक्कों के अधिकाधिक प्रचलन के साथ वस्तु विनिमय समाप्त होता जा रहा था। समय तथा स्थान के अनुसार सिक्कों के मूल्यों में भी परिवर्तन होते रहते थे। ऋण देने एवं लेने का भी काफी प्रचलन हो गया था और एक व्यवसाय के रूप में व्यवस्थित हो चुका था। साझे के कार्यों का भी प्रादुर्भाव इस काल में हो चुका था। लोग काफी संख्या में मिलकर किसी बड़े व्यवसाय को संगठित करने लगे थे।

इस अवसर पर हम देखते हैं कि प्राचीन काल में भी भारत में वाणिज्य एवं व्यापार में काफी उन्नति हो चुकी थी। उस समय भी हमारा देश आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया आत्म निर्भर एवं अतीत समृद्ध था। आज हमारे प्राचीन साहित्य एवं देश के विभिन्न भागों में फैली हुई कलाकृतियों से इस तथ्य की साक्षी मिलती है।

प्रश्न ३१. प्राचीन भारत में आर्यों की जीविका एवं यातायात के साधनों का वर्णन कीजिये।

उत्तर—ऋग्वेदीय काल में जीविका के प्रमुख साधन कृषि एवं पशुपालन थे। आर्य लोग गाय-बैल, घोड़े, बकरी, भेड़, गधे और कुत्ते पाला करते थे। इनसे वे कृषि में काम लेते थे तथा गाय आदि का दूध सेवन करते थे। बैलों का प्रयोग हल एवं गाड़ी खींचने के लिये होता था। घोड़े रथ में जोते जाते थे तथा घुड़दौड़ों में दौड़ाये जाते थे। कुत्तों का उपयोग शिकार खेलने, पशु धन की रक्षा करने एवं उनके चरने जाने के समय उनकी रक्षा करने के लिये रात में घर की रखवाली करने में किया जाता था। भेड़ें ऊन के लिये पाली जाती थीं। कृषि के क्षेत्र में आर्यों को हल का उपयोग ज्ञात था। ये हल छः से लेकर बारह बैलों तक के द्वारा खींचे जाते थे। पका हुआ अन्न हंसिये काटा जाता था तथा गट्ठरों (पार्श) में बांधा जाता था। अनाज को कूटकर उसकी भूसी भी अलग की जाती थी। खेतों में खाद का उपयोग भी होता था जिसे शकन या करीष कहते थे। इस समय यव एवं धान्यों की खेती होती थी। सिंचाई झीलों, नदियों व कुओं से की जाती थी। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिये कुल्या (एक प्रकार की नाली या नहर) का भी उल्लेख मिलता है। धन की गणना पशुओं तथा सुपुत्रों के रूप में की जाती थी। कुछ लोग विभिन्न प्रकार के हस्तोद्योगों से भी अपना जीवन निर्वाह करते थे। बढ़ई, कर्मार (धातुओं का काम करने वाले), हिरण्यकार (सुनार, चर्मकार), वाय (कपड़े बुनने वाले), आदि का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है। कुछ लोग (वणिक्) केवल व्यापार द्वारा ही जीविका निर्वाह करते थे।

उत्तर वैदिक-काल में उद्योगों एवं व्यवसायों के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति हो गई थी। यजुर्वेद मछली पालने, हल बनाने, धोबी, नाई, कसाई, संदेश-वाहन, आभूषण बनाने तथा टोकरी, रस्सी, रंग, रथ, वाण, धनुष, मिट्टी के बर्तन आदि के कामों का उल्लेख प्राप्त होता है। लेन-देन का कार्य करने वालों का विवरण भी इस काल के साहित्य में मिलता है। स्त्रियां भी वस्त्र रंगने, पेशस् (कढ़ाई), कांटों तथा टोकरियों का कार्य करती थीं। कृषि के क्षेत्र में भी इस काल में ऋग्वेदीय काल की अपेक्षा यथेष्ट उन्नति हुई थी। अब हल का आकार बड़ा एवं भारी हो गया था तथा उसे २४ बैल तक खींच सकते थे। करीष (अर्थात् गोबर से बनी हुई खाद) का उपयोग अब अधिक मात्रा में होने लगा था। अब चावल, जौ, मूंग, तिल, मसूर आदि अनेक खाद्यान्नों की खेती होने लगी थी तथा लोगों को विभिन्न फसलों के उपयुक्त ऋतुओं का भी ज्ञान हो गया था। वर्ष में लोग दो फसलें भी पैदा करने लगे थे।

वैदिक काल के पश्चात् सूत्र, स्मृति एवं महाकाव्यों के काल तक आते आते आर्यों के जीवन-निर्वाह के साधन और भी विकसित हो गये थे। अब कुछ लोग वेतन आदि लेकर दूसरों की सेवा भी करने लगे थे। सेवा करने वाले अध्यक्ष, युक्त, कर्मकार आदि विभिन्न नामों से अभिहित होते थे। लेन-देन के व्यवसाय का भी अच्छा विकास हो गया था। कृषि के क्षेत्र में अब लोग फसलों को जिन महीनों वे तैयार होती थीं, उन महीने के नामों पर पुकारने लगे थे। अनेक प्रकारों के नवीन धान्य भी अब उगाये जाने लगे थे तथा चावलों आदि के अनेक प्रकारों का आविष्कार हो चुका था। अनेक नये उद्योग भी लोगों ने अपनाये थे तथा पुरानों में उन्नति कर ली थी। चन्दन, लाक्षा आदि का लोग व्यापार करने लगे थे। शाकुनिक अर्थात् चिड़ियाँ इत्यादि मारने वालों ने भी समाज में अपना स्थान बना लिया था। कुछ लोग संगीत आदि के आयोजन एवं कुछ अन्य कलाओं के प्रदर्शन से भी अपना जीवन निर्वाह करते थे।

इसके पश्चात् बौद्ध एवं जैन धर्म के काल तक आते-आते पुनः आर्यों की जीवन-चर्चा में अनेक नवीनताओं ने घर कर लिया था। अब लोगे को बीजों के विभिन्न प्रकारों, विभिन्न प्रकार की मिट्टियों तथा उनकी विशेषताओं का ज्ञान हो गया था। अब कपास, गेहूं, चावल, ज्वार, मूंग, उड़द, गन्ने तथा विभिन्न शाकों की खेती होती थी। हल के अगले भाग पर लोहे की तीक्ष्ण नोक लगती थी। खेतों में शूद्रों से काम लिया जाता था। लोग भैंसे भी पालने लगे थे। दूध एवं दूध से बनने वाली वस्तुयें, जैसे घी आदि वेचने का व्यवसाय भी लोगों ने अपना लिया था। उद्योगों की प्रगति एवं उद्योग-क्षेत्रों में यन्त्रों के प्रविष्ट हो जाने से अब यन्त्र-प्रवर्तकों की भी आवश्यकता पड़ने लगी थी। व्यवसायों के क्षेत्रों में भी नये नये व्यवसाय लोगों ने अपना लिये थे।

इस काल के पश्चात् आर्यों की जीवन-चर्या में अगला मोड़ परिलक्षित हुआ। जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के प्रणयन-काल में अब ग्राम तथा छोटे-छोटे नगरों की अपेक्षा बड़े-बड़े नगरों का विकास हो गया था। कुछ व्यवसायों का स्थानीयकरण भी हो गया था। कलाओं एवं उद्योग के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई थी। जातकों में वढ़ई, लुहार, चर्मकार, चित्रकार आदि अठारह प्रकार के हाथ के कार्य करने वालों का उल्लेख हुआ है। इस समय शिल्पों के दो विभाजन हो गये थे, उच्च-शिल्प एवं हीन शिल्प। शिकारियों, मछुओं, कसाइयों, चमड़ा कमाने वालों आदि के तथा सांपों को खिलाने, अभिनय करने, नाचने, संगीत, कपड़े बुनने आदि के कार्य हीन-शिल्प कहलाते थे। अन्य शिल्प उच्च शिल्पों की श्रेणी में रखे जाते थे। इस काल में आकर सामुद्रिक व्यापार में भी काफी प्रगति हो गई थी। इस समय कृषि की भी काफी उन्नति हुई।

गुप्तकाल से लेकर हर्षवर्धन के समय तक जीवन-निर्वाह के सभी साधनों में खूब प्रगति हो गई थी तथा सभी लोग सुखपूर्वक अपने जीवन-यापन के साधन जुटाकर आनन्द से रहते थे।

यातायात के साधन

वैदिक काल (ऋग्वेदीय एवं उत्तर-वैदिक काल दोनों) में यातायात के साधनों का कोई अधिक विकास नहीं हुआ था। जैसे-जैसे कृषि विकास के पथ पर अग्रसर हो रही थी वैसे-वैसे ही यातायात के साधनों में भी प्रगति हो रही थी। आर्यों के प्रमुख धन थे—बैल और घोड़े। बैलों का उपयोग गाड़ियों में होता था तथा घोड़ों का रथों में। रथ और बैलगाड़ी उस समय के प्रमुख वाहन थे। यद्यपि इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता तथापि घुड़सवारी भी अवश्य प्रचलित रही होगी, क्योंकि अनेक स्थानों पर घुड़दौड़ों का उल्लेख हुआ है। घुड़दौड़ में अवश्य ही आर्य-जन घोड़ों पर सवार होकर उनको दौड़ाते होंगे। इसी प्रकार वे कभी-कभी घोड़ों पर सवार होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को भी जाया करते होंगे। रथों का उपयोग केवल सवारी या माल ढोने के लिये ही नहीं होता था अपितु उन्हें युद्ध में भी काम में लाया जाता था। स्थान-स्थान पर ऋग्वेद में पणि (सम्भवतया कालान्तर में वणिक्) तथा नौकाओं का भी विवरण प्राप्त होता है। इससे पता चलता है कि इस काल में नौकाओं का भी यातायात के साधनों में प्रमुख स्थान था। आज प्राचीन-काल के जितने भी ग्राम अथवा नगर दिखलाई देते हैं वे भी सब बड़ी-बड़ी नदियों के पर ही मिलते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक-काल में आर्य जल-मार्ग एवं स्थल मार्ग दोनों से ही दूर-दूर तक जाते थे तथा दूर-दूर के नगरों से व्यापार करते थे।

बौद्ध एवं जैन-ग्रन्थों के प्रणय-काल तक आते-आते यातायात के साधनों का काफी विकास हो गया था। बौद्ध-साहित्य में नौकानयन का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है तथा उससे नौकानयन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का ज्ञान होता

होता है। उस समय इतने बड़े जलपोत बनाये जाने लगे थे कि भारत के व्यापारी उन पर चढ़ कर सुगमता से सागरों एवं महासागरों के वक्ष को चीरते सुदूर देशों में चले जाते थे। जलपोत-निर्माण के व्यवसाय में बहुत प्रगति हो गई थी कि "समुद्द-वणिज" नामक जातक में एक ऐसे जलयान का वर्णन आया है जिसमें बैठकर सहस्रों वर्धक सपरिवार किसी सुदूरवर्ती द्वीप में गये थे। इस प्रकार के अन्य अनेक विशाल जलपोतों का वर्णन भी बौद्ध-साहित्य में मिलता है।

भारत की नदियों का उपयोग भी जलमार्गों के रूप में खूब किया जाता था। बनारस इत्यादि उस समय के अच्छे अन्तर्देशीय बन्दरगाह थे। समुद्र तट पर भी अनेक बन्दरगाहों का उल्लेख मिलता है जिसमें 'गम्भीर-पतन', 'मारुकच्छ', 'कावेरी-पतन' आदि प्रमुख थे।

भारत में स्थल-मार्ग से यातायात के लिये स्थल मार्गों का भी पर्याप्त विकास किया गया था। उस समय नगर अथवा ग्राम दूर-दूर स्थिति थे तथा मार्गों के मध्य में वन बहुत पड़ते थे। इसीलिये स्थल मार्ग से अधिक दूर की यात्रा करना सुरक्षापूर्ण नहीं माना जाता था। इसी कारण से अनेक समूह व्यापार के लिये निकलते थे। इस प्रकार के व्यापारियों के समूह सार्थ कहलाते थे। बौद्ध जातकों में इस प्रकार के अनेक सार्थों का उल्लेख हुआ है। अधिकांशत: ये सार्थ बैलगाड़ियों से यात्रा करते थे। प्राय: सैकड़ों से लेकर सहस्रों तक गाड़ियां एक साथ जाती थीं। ये सार्थ बहुत लम्बी-लम्बी यात्रायें करते थे। 'गान्धार-जातक' में एक ऐसे सार्थ का विवरण पाया जाता है जिसने विदेह से लेकर गान्धार तक (लगभग १२०० मील) की यात्रा की थी। इस प्रकार के सार्थों का एक अध्यक्ष होता था जिसे सार्थ-वाह कहते थे। सार्थवाह मार्ग के विश्रामों, पानी, मार्ग-चयन आदि का कार्य संभालते थे।

भारत में प्रमुख स्थल-मार्ग इस प्रकार थे। प्रथम मार्ग था श्रावस्ती से राजगृह तक लगभग ३०० मील। यह मार्ग कुशीनारा के आस-पास के पर्वतीय प्रदेशों से होकर जाता था। मध्य में १२ विश्राम-स्थल थे जिनमें वैशाली भी एक था। पटना के पास में इस मार्ग से जाते समय गगा भी पार करनी पड़ती थी।[1] दूसरा प्रमुख मार्ग दक्षिण में श्रीवस्ती लेकर पश्चिम में पतिट्ठान (प्रतिष्ठान) नामक स्थान को जाता था। इस मार्ग में छ: विश्राम स्थल थे तथा अनेक स्थानों पर नदियों को पार करना पड़ता था।[2] उस समय नदियों पर स्थायी पुल नहीं थे। कुछ नदियों पर अस्थायी (पीपों आदि के) पुल होते थे। अन्य नदियो को पार करने के लिये नौकाओं का आश्रय लेना पड़ता था। तीसरा मार्ग पश्चिम में सिन्ध को जाता

---

१. अनाथपिण्डक के सार्थ ने श्रावस्ती से लेकर राजगृह तक की यात्रा की थी। (जातकावलि: १. ९२. ३४८)। इसी आधार पर इस मार्ग का अनुमान डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने किया है।

२. सुत्तनिपात ५. १०. ११. १३।

था जो घोड़ों एवं गधों के लिये प्रसिद्ध था।[1] यही मार्ग सोवीर तथा रोरुव अथवा रोरुक तक जाता था। एक अन्य मार्ग उत्तर से पश्चिम को जाता था जो भारत को मध्य एवं पश्चिमी एशिया से सम्बद्ध करता था।[2] यह मार्ग तक्षशिला, साकेत, श्रावस्ती, बनारस, राजगृह आदि से होकर जाता था। इस मार्ग से तक्षशिला को अनेक विद्यार्थी अध्ययनार्थ जाते थे।

मौर्यकाल एवं गुप्तकाल में आकर तो इन यातायात के साधनों एवं मार्गों का बहुत अधिक विकास हो गया था।

प्रश्न ३२. प्राचीन भारत के सिक्कों के विषय में आप क्या जानते हैं?

उत्तर—भारत में सिक्कों का प्रचलन कब से हुआ यह बतलाना कठिन है तथापि प्राचीन साहित्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि किस-किस काल में भारत में सिक्के चलते रहे हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर सौ निष्क एवं सौ अश्व उपहार में देने का वर्णन आया है।[3] यह निष्क सम्भवतया उस समय का कोई सिक्का ही होगा। आगे चलकर गले में पहने जाने वाले निष्कग्रीव नामक एक आभूषण का भी उल्लेख हुआ है।[4] यह निष्कग्रीव इस तरह का कोई आभूषण रहा होगा जैसा कि आजकल भी प्रायः कुछ स्त्रियां चांदी रुपयों को जुड़वाकर गले में पहनने की माला बनवा लेती हैं। इसके अतिरिक्त उस समय ऋण-प्रदान की प्रणाली भी प्रचलित थी जिससे किसी न किसी प्रकार के सिक्कों का उस काल में होना निश्चित सा ही प्रतीत होता है। अभी तक यद्यपि खुदाई से कहीं भी इस प्रकार का कोई सिक्का नहीं मिला है तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में वैदिक काल में भी कुछ सिक्के प्रचलित थे।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में स्पष्टतः ही अनेक सिक्कों का विवरण प्राप्त होता है। ये सिक्के थे कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माष तथा शाण जो कि एक छोटा सा तांबे का सिक्का था। इन सिक्कों के ढाले जाने तथा इन पर राजमुद्रा लगाये जाने का भी वर्णन मिलता है।[5]

मनुस्मृति के रचना-काल में भारत में सोने, चांदी तथा तांबे के सिक्के प्रचलित थे। सोने का सिक्का सुवर्ण कहलाता था जो ८० कृष्णाल का होता था। चांदी के तीन सिक्के प्रचलित थे—रौप्य-माष, जो दो कृष्णल का होता था; धरण,

---

१. जातकावलि १·१२४, १७८, १८१, २·३१, २८७।
२. शतपथ ब्राह्मण ४·१, २, १९।
३. ऋग्वेद १·१६२·२।
४. महावग्ग ८, ६।
५. पाणिनि-अस्टाध्यायी, ५·१·२९, ५·१·२०, ३०, '५·१·३४, ५४·१ तथा ५·२·१२०।

जो एक माषक का होता था तथा शतमान जो दस धरण के बराबर होता था । तांबे का सिक्का कार्षापण होता था जो भार में सोने के सिक्के 'सुवर्ण' के बराबर होता था । वह साधारणतया पण कहलाता था । सबसे छोटा सिक्का पण के आठवें भाग का होता था । अर्द्ध पण, पाद-पण एवं पादार्द्ध पण क्रमशः पण के आधे, चौथाई एवं आठवें भाग के सिक्कों के नाम थे । सेवकों की दैनिक भृति एक से लेकर छः पण तक होती थी । सोने, चांदी एवं तांबे का सापेक्ष मान क्या था इसका तो स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता हां एक स्थान पर ६ स्वर्ण सिक्कों को १०० पणों से अधिक मूल्यवान अवश्य बतलाया गया है ।[1]

तथा राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता (अंग्रेजी) पृष्ठ १७२·१७३ ।

विष्णु-स्मृति में भी कुछ सिक्कों का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

३ यव	= १ कृष्णल
५ कृष्णल	= १ माष
१५ माष	= १ अक्षार्ध
१ अक्षार्ध तथा ४ माष अर्थात् १६ माष	= १ सुवर्ण
४ सुवर्ण	= १ निष्क

भार में दो कृष्णल १ रूप-माषक के बराबर तथा १६ कृष्णल एक धरण के बराबर होते थे ।[2]

नारदस्मृति में दो बार 'दीनार' शब्द का उल्लेख हुआ है । एक बार तो आभूषण के रूप में तथा दूसरी बार सिक्के के रूप में । इस उद्धरण के आधार पर डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने इस सिक्के के प्रचलन तथा नारदस्मृति के प्रणयन का समय प्रथम से लेकर तृतीय शताब्दी ईसवीय तक माना है । नारद ने चांदी के कार्षापण नामक सिक्के तथा पण नामक सिक्के का भी उल्लेख किया है ।

अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने भारत पर ३३० ई० पूर्व में आक्रमण किया था तथा वह ३२५ ई० पूर्व में भारत से गया था । इसके पश्चात् सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस ने भी भारत पर आक्रमण किया था । अलक्षेन्द्र ने भारत पर आक्रमण करने से पूर्व फारस (पर्शिया) के राजा डेरियस तृतीय पर विजय प्राप्त की थी । भारत में युद्ध के समय फारस के यही सिक्के भारत में भी उपयोग में लाये गये थे । इसलिये आज भी भारत में यत्र-तत्र खुदाई में फारस के ये सिक्के मिल

१. देखिये मनुस्मृति ८·१३५-६, ८·१३१, ८·४०४, ७·१२६, ८·२८४, ८·४०३ तथा राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता (अंग्रेजी) पृष्ठ १७२-१७३ ।
२. देखिए राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता (अंग्रेजी) पृष्ठ १७४ ।

जाते हैं । फारस का सोने का सिक्का डेरिक था जो भार में लगभग १३० ग्रेन का था । इसके अतिरिक्त कुछ चांदी के सिक्के भी प्रचलित थे ।

बौद्ध ग्रन्थों में काहापण (कार्षापण) नाम से सिक्के का अनेक बार उल्लेख हुआ है । दूसरे सोने के सिक्के थे निक्ख (निष्क) तथा सुवण्ण (सुवर्ण) इसके अतिरिक्त कस, पाद, मासक, काकणिका आदि का भी वर्णन आया जो कांसे अथवा ताँबे के सिक्के थे ।

गुप्तकाल में छोटे-छोटे क्रय-विक्रयों के लिये कौड़ियों के प्रयोग का भी वर्णन पाया जाता है । इस प्रकार भारत में सिक्कों का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से था । इतना अवश्य है कि इनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं ।

६

- प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था
- प्राचीन भारत में राजकीय अधिकारी और उनके कर्त्तव्य
- प्राचीन भारत में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था
- प्राचीन भारत के गणराज्य
- प्राचीन भारत में राज्य की आय के साधन
- सभा और समिति
- प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था में लोकतन्त्रात्मक तत्व
- प्राचीन भारत में राजा की शक्ति के स्रोत

प्रश्न. ३३ प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था का वर्णन कीजिये ।

उत्तर—प्राचीन काल में, भारत में शासन-व्यवस्था का क्या स्वरूप था इसका आज कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता तथापि वेद, ब्राह्मण, स्मृति तथा बौद्ध-साहित्य में कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनमें उस काल की शासन-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है । ऋग्वेदीय काल में एक स्थान पर रहने वाले मनुष्यों का समूह विश् अथवा जन कहलाता था । विश् अथवा जन का क्या स्वरूप था यह आज निश्चित रूप से पता नहीं चलता तथापि ऐसा अवश्य ज्ञात होता है कि ये उस समय के कुछ मनुष्यों का संगठित नाम था । इस समय जन अथवा विश् का अधिपति राजा होता

था जो जन का रक्षक (जगस्य गोप्ता) कहलाता था। देश अथवा राज्य को राष्ट्र कहा जाता था। राजाओं का चुनाव होता था। अधिकांशतः राजा युद्ध में कुछ लोगों का नेतृत्व करने के लिये चुने जाते थे। आक्रमण एवं रक्षा दोनों के समय ही राजा को अपनी प्रजा का नेतृत्व करना पड़ता था। राजा की इन सेवाओं के बदले में प्रजा उसकी आज्ञाओं का पालन करती थी। राजा का कार्य न्याय करना भी था। राजा अदण्ड्य था अर्थात् उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता था। वह दण्ड (राजदण्ड के रूप में) धारण करता था। प्रासाद, वेशभूषा एवं कर्मचारीवर्ग राजतत्व के चिन्ह थे।

राजा का प्रमुख मन्त्री पुरोहित कहलाता था, वह राजा का प्रमुख सहायक, पथ-प्रदर्शक तथा मित्र होता था। राजा के सभी धार्मिक एवं राजनैतिक मामलों में उसकी राय सर्वोच्च मानी जाती थी। सभा और समिति के नाम की दो जनसंस्थायें उस समय के राजा की प्रभुसत्ता पर नियन्त्रण रखती थीं। सभा और समिति के द्वारा प्रजा-जन अपने कल्याण आदि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मामलों पर अपनी राय व्यक्त कर सकते थे। सभा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में एकमित्र जन-समूह के लिये भी किया गया है तथा लोगों के मिलने के स्थान के लिये भी किया गया है। समिति के स्वरूप के विषय में कोई अधिक नहीं लिखा गया है। इतना अवश्य पता चलता है कि समिति का राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। राष्ट्र की समृद्धि के लिये राजा एवं समिति में सम्बन्ध होना आवश्यक था। समिति में केवल राजनैतिक विषयों पर ही वाद-विवाद नहीं किया जाता था वरन् धार्मिक विषयों का भी विचार किया जाता था।

उत्तर वैदिक-काल में जनपदों का बहुत अधिक विकास हो गया था तथा राजाओं के राजा अर्थात् महाराजा अथवा सम्राट की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी। सम्राट ही एकराट् राजाधिराज अथवा अधिराज भी कहलाता था। सम्राट के लिये वाजपेय, राजसूय, अश्वमेघ आदि का करना आवश्यक था। इतना सब कुछ होते हुये भी राजा सर्वप्रभुत्वसम्पन्न नहीं होता था। प्रजा राजा का चुनाव करने में स्वतन्त्र होती थी। अभिषेक के समय राजा के सम्मुख उसको स्वच्छन्द बनने देने से रोकने के लिये कुछ शर्तें रखी जाती थीं। राजा अपने मन्त्रिमण्डल पर आश्रित रहता था तथा इसके अतिरिक्त सभा एवं समिति भी राजा को स्वच्छन्द होने से रोकती रहती थी। अथर्ववेद आदि में राजा के चुनाव का विशद विवरण प्राप्त होता है। ऐतरेय-ब्राह्मण में साम्राज्य, भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पांच प्रकार की शासन-विधियों का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही साथ वहां पर यह भी निर्देश किया गया है कि ये देश के किस-किस क्षेत्र में प्रचलित थीं। राजा का राज्याभिषेक १२ रत्नियों के द्वारा किया जाता था, जो इस प्रकार होते थे। सेनानी, पुरोहित, राजन्य राजमहिषि, सूत (इतिवृत्त-लेखक) ग्रामणी, क्षता (राजपरिवार का प्रबन्धक), संग्रहीता (कोषाध्यक्ष), भागदुघ (कर विभागाध्यक्ष), अक्षवाप (महागणक), गोविकर्त्ता (वन-विभागाध्यक्ष) तथा पालागल (सूचनाविभागाध्यक्ष)। ये रत्नी जनता के प्रमुख व्यक्ति होते थे।

सूत्र-काल तक आते-आते शासन-व्यवस्था में कुछ और भी विकास हो गया था। राजा एक परिषद् की सलाह से कार्य करता था। परिषद् के सदस्य पारिषद्य कहलाते थे तथा राजा परिषद्वलः कहलाता था। राज्य के विभिन्न अधिकारी युक्त कहलाते थे। राज्य के विभिन्न विभागों के मुखिया होते थे जो अध्यक्ष कहलाते थे। नियमों एवं अनुशासन का प्रमुख अधिकारी वैनायिक कहलाता था। न्याय का प्रमुख अधिकारी व्यावहारिक कहलाता था तथा मार्गों एवं धन का प्रमुख अधिकारी औपायिक कहलाता। इस युग में दो प्रकार के संघों का भी विवरण मिलता है, प्रथम निकाय तथा द्वितीय गण। निकाय एक प्रकार के धार्मिक संघ होते थे जिनमें जन्म आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाता था। गण एक प्रकार की राजनैतिक सभा होती थी जिसमें सभी वर्णों के लोग सम्मिलित होते थे। क्षत्रिय राजन्य कहलाते थे तथा इनका गण में प्रमुख स्थान होता था। सूत्र-ग्रन्थों का कथन है कि राजा उस समय कानून का निर्माता नहीं था।

रामायण एवं महाभारत के काल तक आते-आते आर्यों की साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी थी। अब राजा बिल्कुल भी एकतन्त्र नहीं रह गया था। उसको औचित्य एवं न्याय के आधार पर शासन करना पड़ता था। अपनी प्रजाओं को पीड़ा पहुँचाने वाले राजा को एक पागल कुत्ते की भाँति मार दिया जाता था। राजा सच्चे अर्थों में भूपति होता था। उसे जनपदों, कुल, जाति, श्रेणी अथवा पूग (ग्राम-सभा) आदि के नियमों का सम्मान करते हुये भी शासन-व्यवस्था करनी होती थी भारत में अनेक गणतन्त्रों का उल्लेख मिलता है। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर तथा भोज के नाम के पांच गणतन्त्रों ने अपना एक संघ बनाया था जिसके प्रमुख अध्यक्ष कृष्ण थे। मन्त्रि-परिषद् तथा सभा राजा की प्रभुसत्ता को नियन्त्रित करती थीं। महाभारत में उल्लेख किया गया है कि उस समय ३७ मन्त्रियों का मन्त्रिमण्डल होता था जिसमें चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र एवं एक सूत होता था। इनमें से नौ मन्त्रियों की एक परिषद् बनाई जाती थी। परिषद् का प्रधान प्रधान-मन्त्री कहलाता था। राजा का प्रतिदिन का प्रथम कर्त्तव्य, मन्त्रियों से पृथक्-पृथक् अथवा सामूहिक रूप से मन्त्रणा कराने के लिये, मन्त्रगृह में जाना होता था। सभा का अध्यक्ष राज्य के अठारह प्रमुख अधिकारियों में से एक होता था। इस युग में सभा एक प्रकार की न्याय करने वाली संस्था हो गई थी। इतना सब कुछ होते हुये भी यदि राजा ठीक प्रकार से शासन का कार्य करने में असमर्थ हो तो उसे राज्यच्युत भी किया जा सकता था। महाभारत में 'वेन' और 'खनीनेत्र' आदि राजाओं के पदच्युत किए जाने का उल्लेख किया गया है। इस समय के प्रतापी राजा 'चक्रवर्ती-पद' प्राप्त करते थे।

बौद्ध-काल तक आते-आते शासन व्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। बौद्ध-साहित्य में शाक्य, लिच्छिवि, विदेह, वज्जि, मल्ल, मोरिय आदि

अनेक गणराज्यों का उल्लेख किया गया है। इन सबमें लिच्छिव नाम के गणराज्यों के विषय में आज प्रचुर जानकारी उपलब्ध होती है। अतः उसका एक अतिसंक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। लिच्छिवियों ने महात्मा बुद्ध के काल से बहुत पूर्व ही अपने आपको एक गणराज्य के रूप में संगठित कर लिया था। सम्पूर्ण लिच्छिवि गणराज्य के अन्तर्गत ७,७०७ राजा थे जिनका चुनाव १,६८००० जनता ने किया था। राजाओं के अतिरिक्त अनेक उपराजाओं, सेनापतियों, भण्डागारिकों आदि का चुनाव भी जनता के द्वारा ही किया जाता था। वास्तव में तो 'ललितविस्तर' के अनुसार लिच्छिवियों में प्रत्येक अपने आप को राजा समझता था तथा उनमें आपस में किसी प्रकार का भेद-भाव न था। इनमें से सम्भवतः प्रत्येक राजा अपने-अपने शासन क्षेत्र में अपने कर्मचारी-वर्ग के साथ राज्य करता था तथा इस प्रकार के ७,७०७ राजाओं की संघ संसद क्षेत्रों का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व करती थी।

बौद्ध-काल के इन सभी गणराज्यों में किसी बात का निर्णय बहुमत द्वारा ही किया जाता था। शलाका-ग्रहण मत एकत्रित करने के विविध नियम थे। इन गणराज्यों में राजा का सदैव निर्वाचन ही होता था। अतः वंश-परम्परागत राजा होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। राज्य का मुखिया अर्थात् निर्वाचित प्रधान ही राजा कहलाता था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोधन भी इसी प्रकार के राजा थे।

दूसरी ओर बौद्ध-काल में कुछ राजतन्त्रों का भी उल्लेख पाया जाता है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय गणराज्यों के अतिरिक्त राजतन्त्रों का भी अस्तित्व था। जातकों में अनेक ऐसे राजाओं का वर्णन किया गया है जो अपने मर्यादित अधिकारों से राज्य का शासन करते थे। इनमें कुछ राजा अत्याचारी एवं प्रजा-पीड़क भी थे। अधिकांश राजतन्त्रों में राजा उत्तराधिकारी होता था, किन्तु फिर भी राजकुमार की राज्याधिकार सम्बन्धी योग्यता की भली प्रकार परीक्षा कर ली जाती थी। यदि कभी ऐसा होता कि कोई भी राजकुमार शासन के योग्य न होता तो अमात्यगण किसी अन्य योग्य व्यक्ति को राजा बना देते थे। इस प्रकार के राज्यों में अमात्यों का बहुत अधिक महत्व था। अमात्य ऐसे ही व्यक्ति बनाये जाते थे जो प्रसिद्ध विद्वान, अनेक विद्याओं में पारंगत तथा चरित्रवान् होते थे। पुरोहित, सेनापति, भाण्डागारिक आदि भी मन्त्रि-परिषद के सदस्य होते थे। रक्षा की व्यवस्था पुलिस के हाथों में होती थी। ग्राम का शासक 'ग्राम-भोजक' कहलाता था। इस काल में निष्पक्ष न्याय की बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था थी। दण्ड-व्यवस्था अत्यधिक कठोर थी। अंग-भंग, कोड़े मारना, हाथी द्वारा कुचलवाना आदि अनेक प्रकार के दण्ड दिये जाते थे।

इस प्रकार यह पता चलता है कि भारत में शासन-व्यवस्था का स्वरूप समय-समय पर परिवर्तित होता रहा था। भिन्न-भिन्न कालों में हमारे समक्ष शासन के रूप आते हैं जो सभी अपनी पृथक-पृथक विशेषतायें रखते हैं।

प्रश्न ३४. प्राचीन भारत में राजकीय अधिकारियों और उनके कर्त्तव्यों का उल्लेख कीजिये।

उत्तर—प्राचीन भारत में राजकीय अधिकारियों के रूप में अधिकांश स्थानों पर अमात्यों का उल्लेख पाया जाता है।

वैदिक काल में सर्वाधिक महत्व विशः या प्रजा को दिया गया था जो राजा का वरण किया करती थी। इसके अतिरिक्त उस समय सभा और समिति का संगठन राजा को उसके विविध राज्यकार्यों में सहायता देना था। (सभा और समिति को विस्तार से जानने के लिये प्रश्न ३६ का उत्तर पढ़िए।) इस समय कुछ व्यक्ति 'राजान राजकृतः' होते थे जो राजा को राजचिन्ह का पर्ण मणि प्रदान किया करते थे।

उत्तर वैदिक काल तक आते-आते 'राजान राजकृतः' व्यक्तियों का स्थान १२ रत्नियों ने लिया था—(१) सेनानी—यह सेना का प्रधान अधिकारी या सेनापति होता था। (२)—पुरोहित—इसी को तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मण नाम से अभिहित किया गया है। (३) अभिषिक्त होने वाला राजा स्वयं। (४) महिषी या राजमहिषी (५) सूत—ये राजा और राज्य-विषयक इतिवृत्त का संकलन करते थे (६) ग्रामणी—यह ग्राम का मुखिया होता था। ये प्रायः जनसाधारण के व्यक्ति होते थे। (७) क्षत्रिय या क्षता—यह प्रायः वह वर्ग था जो सैनिक कार्य में निपुणता के कारण सर्वसाधारण 'विशः' से पृथक् हो गया था। (८) संगृहीता—इसका काम राज्य-कोष का नियमन करना था। (९) भागदुध—यह राज्य कर को वसूल करने वाला प्रधान अधिकारी था। (१०) अक्षवाप—यह आय-व्यय का हिसाब रखने वाला प्रधान अधिकारी था। (११) गोविकर्ता—यह जंगल विभाग का एक प्रधान अधिकारी होता था। इसका एक प्रमुख कार्य खेती को नुकसान पहुँचाने वाले जंगली पशुओं का विनाश करना भी होता था। (१२) पालागल—इसका कार्य राजकीय संदेशों को पहुंचाना होता था।

रामायण-महाभारत काल में राज्य के अधिकारियों की क्या स्थिति थी इस विषय में महाभारत के शान्ति-पर्व में राजा के द्वारा अपनी सहायता एवं परामर्श के लिये कतिपय अमात्यों की नियुक्ति करने का उल्लेख किया गया है। यह विवरण इस प्रकार है—

"चार ब्राह्मण नियत किये जायें जो चिकित्सा में निपुण हों, स्नातक हों, विद्वान व सदाचारी हों। अठारह ऐसे क्षत्रिय नियुक्त किये जायें जो शक्ति सम्पन्न और शस्त्र धारण करने वाले हों। इक्कीस ऐसे वैश्य नियुक्त किये जायें जो वित्त से सम्पन्न हों। तीन ऐसे शूद्र नियत किये जायें जो विनीत और सतकर्म करने वाले हों। साथ ही पौराणिक अनुश्रुति के ज्ञाता एक ऐसे सूत को भी लिया जाय जो

पचास साल से ऊपर की आयु का हो और साथ ही जो निन्दा न करने वाला, विद्वान, समदर्शी और श्रुति-स्मृति का ज्ञाता हो।[1]

इसी काल में प्रत्येक ग्राम का अधिपति एक 'ग्रामिक' नियत किया जाता था। फिर क्रमशः दस, बीस, सौ और एक हजार ग्रामों के शासक नियत किये जाते थे। दस ग्रामों का शासक 'दशिक', बीस ग्रामों का 'विंशाधिप', सौ ग्रामों का 'शतपाल' एवं सहस्त्र ग्रामों का शासक 'शहस्त्रपति' कहलाता था। जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत जो नगर होते थे उनके लिये एक-एक 'सर्वार्थ-चिन्तक' शासक की नियुक्ति की जाती थी। ग्रामिक का कार्य ग्राम-सम्बन्धी सब कार्यों को सम्पन्न करना और उनके दोषों का निवारण करना माना जाता था। वह ग्राम सम्बन्धी सारे मामलों की सूचनायें 'दशिक' के पास भेजता रहता था। दशिक विंशाधिप को सूचनायें भेजता, विंशाधिप शतपाल को, शतपाल सहस्त्रपति को और सहस्त्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र या राज्य के राजा को। नगर पुर या राजधानी का राज्यपदाधिकारी अपने क्षेत्र के सब विषयों का शासन करता था।

बौद्ध युग में भी राजा के अमात्यों का शासन में महत्वपूर्ण स्थान होता था। अमात्यों के लिये सब विद्याओं व शिल्पों में निष्णात होना आवश्यक होता था और ये राजा को शासन सम्बन्धी सभी विषयों में परामर्श दिया करते थे। अमात्यों में सबसे प्रमुख स्थान पुरोहित का होता था। यह राजा के धर्म और अर्थ दोनों का अनुशासक होता था। अन्य अमात्यों में सेनापति, भाण्डागारिक विनिश्चयामात्य और रज्जुक के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सेनापति का कार्य जहां सैन्य का सचालन करना होता था वहीं वह एक मन्त्री के रूप में कार्य करता था। वह कभी-कभी मुक-दमे के निर्णय करने का भी कार्य करता था। एक स्थान पर सेनापति को अमात्यों का प्रमुख भी कहा गया है। विनिश्चयामाय न्याय मन्त्री को कहते थे। यह जहां मुक-दमों का फैसला करता था वहाँ राजा को धर्म तथा कानून सम्बन्धी मामलों में परा-मर्श भी देता था। भाण्डागारिक कोषाध्यक्ष को कहते थे। भाण्डागारिक प्रायः किसी अत्यन्त सम्पत्तिशाली व्यक्ति को बनाया जाता था। एक भाण्डागारिक की सम्पत्ति ८० करोड़ लिखी गई है। रज्जुक सम्भवतः भूमि की पैमाइश आदि करके मालगुजारी वसूल करने वाले अमात्य को कहते थे। इनके अतिरिक्त दोलमापक, हिरण्यक, सारथी, दोवारिक आदि अन्य अनेक राजकर्मचारियों का भी उल्लेक जातक-साहित्य में उपलब्ध होता है। उस समय शहर का कोतवाल 'नगरयुन्तिक' कहलाता था। यह नगर की शान्ति रक्षा का उत्तरदायी होता था।

मौर्यकाल तक आते-आते राज्य शासन का क्या स्वरूप हो गया था इस सम्बन्ध में कौटिलीय अर्थशास्त्र में विस्तार से उल्लेख किया गया है। इस काल में

---

१. महा शान्तिपर्व ८५।७-१०।

शासन के विविध महकमे 'तीर्थ' कहलाते थे। इनकी संख्या अठारह होती थी और प्रत्येक तीर्थ एक महामात्य के अन्तर्गत होता था। इन अठारह महामात्यों और उनके विविध कार्यों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करना अतीव आवश्यक है—

(१) **मन्त्री और पुरोहित**—वैसे तो ये दो अलग-अलग पद थे किन्तु सम्भवतः आचार्य चाणक्य इन दोनों पदों पर एक साथ विद्यमान थे। बाद में राधागुप्त जैसे प्रतापी अमात्य भी मन्त्री और पुरोहित दोनों पदों पर एक साथ बने रहते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन दोनों पदों का उल्लेख प्रायः साथ-साथ ही किया गया है। राजा इन्हीं के साथ मिलकर अन्य राज्य कर्मचारियों के शौचाशौच की परीक्षा लेता था, प्रजा की सम्मति जानने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति करता था, विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति तथा परराष्ट्रनीति का संचालन करता था। शिक्षा का कार्य भी इन्हीं के अधीन रहता था।

(२) **समाहर्त्ता**—विभिन्न जनपदों के शासन के लिये नियुक्त राजपुरुष जहां समाहर्त्ता कहलाते थे, वहाँ सब जनपदों के शासन का संचालन करने वाला विभाग भी समाहर्त्ता नामक अमात्य के अधीन था। राजकीय करों का एकत्र करना—इस विभाग का सर्वप्रधान कार्य था। समाहर्त्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्र करते थे और व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन करते थे। ऐसे कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित थे—

(क) **शुल्काध्यक्ष**—इसका कार्य विविध प्रकार के व्यापार से सम्बन्धित अनेक विध शुल्कों (करों) को एकत्र करना था।

(ख) **पौतवाध्यक्ष**—तौल और माप के परिमाणों पर नियन्त्रण रखना इसका प्रमुख कार्य था।

(ग) **मानाध्यक्ष**—इसका कार्य देश और काल को मापने के विविध साधनों का नियन्त्रण करना था।

(घ) **सूत्राध्यक्ष**—यह सूत बनाने, कपड़ा बुनने, कवच बनाने और रस्सी बनाने आदि के कार्यों का अध्यक्ष होता था।

(ङ) **सीताध्यक्ष**—यह कृषि विभाग का अध्यक्ष होता था। कृषि की उन्नति के अतिरिक्त इसे राजकीय भूमि पर दास, मजदूर आदि से खेती भी करवानी पड़ती थी।

(च) **सुराध्यक्ष**—यह शराब बनवाता था, उसे बिकवाता था तथा उसके प्रयोग का नियन्त्रण करता था।

(छ) **सूनाध्यक्ष**—यह देश के विविध बूचड़खानों का नियन्त्रण करता था तथा राजकीय सूना का सब प्रबन्ध करता था।

(ज) **गणिकाध्यक्ष**—मौर्यकाल में वेश्याओं का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से भी कियां जाता था। यह विभाग गणिकाध्यक्ष के अधीन था। यह स्वतन्त्र वेश्याओं का भी सम्पूर्ण प्रबन्ध एवं निरीक्षणकरता था।

(झ) **मुद्राध्यक्ष**—इसका कार्य देश के बाहर आने या जाने के लिये राजकीय मुद्रा का प्रबन्ध करना होता था।

(ञ) **विवीताध्यक्ष**—इसके कार्य गोचर भूमियों का प्रबन्ध, जंगल की सड़कों को ठीक रखना, व्यापारियों के माल की रक्षा करना, काफिलों को डाकुओं से बचाना तथा शत्रुओं के हमलों की सूचना राजा को देना आदि थे।

(ट) **नावाध्यक्ष**—छोटी-बड़ी नदियों, समुद्रतटों तथा महासमुद्रों को पार करने वाली विविध नौकाओं और जहाजों का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त जलमार्ग से यात्रा करने पर किराये आदि का नियमन नावध्यक्ष के कार्य थे।

(ठ) **गोऽध्यक्ष**—राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी गोशालायें होती थीं जिनमें गौओं तथा दूसरे उपयोगी पशुओं की उन्नति का विशेष प्रयत्न किया जाता था। इस सबका प्रबन्ध गोऽध्यक्ष के अधीन होता था।

(ड) **अश्वाध्यक्ष**—घोड़ों को सेना आदि के लिए प्राप्त करना, उनके रख रखाव एवं नसल की उन्नति आदि का प्रबन्ध करना आदि अश्वाध्यक्ष के प्रमुख कार्य थे।

(ढ) **हस्त्याध्यक्ष**—यह जंगलों से हाथियों को पकड़वाने, हस्तवनों की रक्षा करने तथा हाथियों के पालन और उन्हें सैनिक दृष्टि से तैयार करने का कार्य करता था, इसी तरह ऊंट, खच्चर, भैंस, बकरी आदि के लिए भी पृथक् उपविभाग थे।

(ण) **कुप्याध्यक्ष**—इसका कार्य यह था कि जंगलों में उत्पन्न होने वाले विविध पदार्थों को एकत्र कराके उन्हें कारखानों में भेज दे ताकि वहां कच्चे माल को तैयार माल के रूप में वरिवर्तित किया जा सके। इसके अधीन द्रव्यपाल और वनपाल नाम के कर्मचारी होते थे जो जंगलों से कुप्य द्रव्यों को एकत्र कराने तथा जंगलों की रक्षा का कार्य करते थे।

(त) **पण्याध्यक्ष**—यह स्वदेशी और विदेशी व्यापार का नियन्त्रण करता था तथा राज्य द्वारा अधिकृत व निर्मित पदार्थों को बेचने का भी प्रबन्ध करता था।

(ब) **लक्षणाध्यक्ष**—इसके अधीन सम्पूर्ण मुद्रापद्धति करेंसी होती थी।

(द) **आकराध्यक्ष**—खानों से बहुमूल्य धातुओं व अन्य पदार्थों को निकलवाने का कार्य इसके अधीन था। इसके अधीन अनेक उपाध्यक्ष होते थे जिनमें लोहाध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, खन्याध्यक्ष और सुवर्णाध्यक्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(घ) **देवताध्यक्ष**—यह विविध देवताओं और उसके मन्दिरों का प्रबन्ध करता था।

(न) **सौर्वणिक**—यह टकसाल का अध्यक्ष होता था।

(उ) **सन्निधाता**—इसके हाथ में राजकीय कोष का कार्य रहता था। राजकीय आय और व्यय का हिसाब रखना और उसके सम्बन्ध में नीति का निर्धारण करना इसी का कार्य था। इसके अधीन भी अनेक उपविभाग होते थे—कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बंधनागार। इन सबके पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते थे।

४. **सेनापति**—यह युद्ध विभाग का महामात्य होता था। यह सम्पूर्ण युद्ध-विद्या तथा अस्त्र-शस्त्र विद्या में पारंगत होता था। हाथी, घोड़ा तथा रथ के संचालन में समर्थ होता था। वह चतुरंग सेना के कार्य तथा स्थान का निरीक्षण करता था। अपनी भूमि (मोरचे), युद्ध के समय, शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह के भेदन, टूटे हुए व्यूह को फिर से निर्माण, एकत्रित सेना को तितर-बितर करने, अनुपस्थिति तितिर-बितर हुई सेना के संहार करने, किले को तोड़ने, युद्धयात्रा के समय आदि का ध्यान रखता था।

५. **युवराज**—यह राजा की मृत्यु के बाद राजगद्दी का उत्तराधिकारी होता था तथा राजा के जीवनकाल में शासन में हाथ बंटाता था। उसे शासन सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त रहते थे। राजा की अनुपस्थिति में वह शून्यपाल (रीजेंट) का भी कार्य करता था।

६. **प्रदेष्टा**—मौर्यकाल में न्यायालय दो प्रकार के होते थे—धर्मस्तीय और कण्टक शोधन। कण्टकशोधन न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहते थे। विविध अध्यक्षों और राजपुरुषों का नियन्त्रण करना और बेईमानी, चोरी, रिश्वत आदि से पृथक रहें, इसका ध्यान रखना भी प्रदेष्टा का कार्य था।

७. **नायक**—वह सेना का मुख्य संचालक होता था। सेनापति सेना का महामात्य होता था लेकिन नायक युद्धक्षेत्र में सेना का संचालन करता था। स्कंधावार (छावनी) तैयार कराने का काम भी इसी के हाथ में था। युद्ध के समय यह सेना के आगे रहता था।

८. **व्यावहारिक**—धर्मस्थीय न्यायालयों का प्रधान न्यायाधीश व्यावहारिक कहलाता था। इसे धर्मस्थ भी कहते थे।

९. **कार्मान्तिक**—मौर्यकाल में राज्य की ओर से अनेक कारखानों का संचालन होता था। खानों, जंगलों, खेतों आदि के एकत्र कच्चे माल को भिन्न-भिन्न उपयोगों के लिये तैयार करने के लिये राज्य की ओर से विविध कारखाने थे। इन सबका संचालन कार्मान्तिक के अधीन होता था।

१०. **मन्त्रिपरिषद अध्यक्ष**—राजा को सलाह देने के लिये एक मन्त्रिपरिषद होती थी। उसका एक पृथक विभाग होता था तथा इसके अध्यक्ष की गिनती राज्य के प्रधान अठारह तीर्थों में की जाती थी।

११. **दण्डपाल**—ऊपर सेना के महामात्यों, सेनापति और नायक का उल्लेख किया गया है। दण्डपाल भी सेना से ही सम्बन्ध रखता था। इसका विशेष कार्य सेना की सब आवश्यकताओं को पूरा करना और उसके लिये सब प्रबन्ध करना होता था।

१२. **अन्तपाल**—उस समय सीमान्त प्रदेशों का बड़ा महत्व था। सीमाओं की रक्षा के लिये बहुत से दुर्ग बनाये जाते थे। जब विदेशी सेना आक्रमण करके राज्य की सीमाओं को लाँघने लगती थी तब ये दुर्ग अतीव उपयोगी होते थे। इनकी व्यवस्था का कार्य अन्तपाल के सुपुर्द था।

१३. **दुर्गपाल**—जैसे सीमा-देशों के दुर्ग अन्तपाल के अधीन थे वैसे ही साम्राज्य के अन्तर्वर्ती दुर्ग दुर्गपाल के अधिकार में रहते थे। उस युग में बड़े-बड़े नगर दुर्ग के रूप में ही बसे होते थे। इन सबकी दुर्गरूप में व्यवस्था दुर्गपाल के ही हाथ में होती थी।

१४. **नागरक**—जैसे जनपदों का शासन समाहर्त्ता के अधीन था वैसे ही पुरों या नगरों का सर्वोच्च अधिकारी नागरक होता था। साम्राज्य में राजधानी की बड़ी महत्ता होती थी। नागरक के हाथ में विशेष रूप से राजधानी का शासन होता था।

१५. **प्रशास्ता**—चाणक्य के अनुसार शासन राजकीय आज्ञाओं पर आश्रित होता है। सन्धि और विग्रह की मूल राजकीय आज्ञायें ही होती हैं। इन सब आज्ञाओं (राजशासन) को लिपिबद्ध करने के लिये पृथक विभाग था जिसका प्रधान अधिकारी प्रशास्ता कहलाता था। राज्य के दूसरे सब विभागों का रिकार्ड रखना भी इसी का काम होता था। इसके अधीन एक विशाल कार्यालय 'अक्षपटल' होता था। इस कार्यालय में राजकीय कर्मचारियों के वेतन, नौकरी की शर्तों, विविध देशों, जनपदों, ग्रामों, श्रेणियों आदि के धर्म, व्यवहार व चरित्र आदि का उल्लेख, खानों कारखानों आदि के कार्य के हिसाब को निबन्ध-पुस्तकस्थ किया जाता था।

१६. **दौवारिक**—यह राजप्रासादा का प्रधान अधिकारी होता था। राजप्रासाद में रहने वाले हजारों स्त्री-पुरुषों का प्रबन्ध करना और अन्तःपुर के आन्तरिक शत्रुओं से राज्य की रक्षा करना इसका कार्य होता था।

१७. **आन्तर्वंशिक**—राजा की निजी अंगरक्षक सेना का अध्यक्ष आन्तर्वंशिक कहलाता था। अन्तःपुर के अन्दर भी आन्तर्वंशिक के विश्वस्त सैनिक राजा की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहते थे। जब राजा रानी से मिलता था तभी अकेला रहता था लेकिन उसके पूर्व भी परिवारिकायें रानी और शयनागार की अच्छी तरह तलाशी अवश्य ले लेती थी। यह सारा प्रबन्ध आन्तर्वंशिक के अधीन होता था।

१८. **आटविक**—उस समय सेना में आटविक बल का भी विशेष महत्व होता था। इन्हीं का प्रधान राजकर्मचारी आटविक या अटविपाल कहलाता था।

गुप्त काल तक आते-आते राज्य के विभिन्न पदाधिकारी निम्न रूप में हो गये थे—

१. **महासेनापति**—राज्य के अन्तर्गत यह सेना का सबसे बड़ा पदाधिकारी होता था।

२. **महादण्डनायक**—महासेनापति के अधीन अनेक महादण्डनायक होते थे और यह युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। महादण्डनायकों के अधीन महाश्वपति, अश्वपति, महापालुपति, पीलुपति आदि सेनानायक रहते थे।

३. **रणभाण्डारिक**—इसके अधीन सेना के लिये सब प्रकार की सामिग्री को जुटाने का विभाग होता था।

४. **महाबलाधिकृत**—इसके हाथ में सेना, छावनी और व्यूहरचना का विभाग रहता था। इसके अधीन अनेक बलाधिकृत होते थे।

५. **दण्डपाशिक**—यह पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। इसके नीचे खुफिया विभाग के अधिकारी 'चौरोद्धारणिक', 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे।

६. **महासंधि विग्रहिक**—इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यों, सामन्तों और गणराज्यों के साथ संधि व विग्रह की नीति का अनुसरण करना होता था।

७. **विनय-स्थिति-स्थापक**—देश में धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उन्नत रखना और विविध सम्प्रदायों आदि में मेल-जोल बनाये रखना आदि इनका कार्य था।

८. **भाण्डागारधिकृत**—यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

९. **महाक्षपटलिक**—राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि के सब लेखे भी इसी अमात्य द्वारा रखे जाते थे।

१०. **सर्वाध्यक्ष**—यह सम्भवतः साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

इन मुख्य पदाधिकारियों के अलावा राज्य-कर को वसूल करने का विभाग 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। इस अधिकरण के अधीन शाल्किक (भूमि कर वसूल करने वाला), गौल्मिक (जंगलों से विविध आमदनी प्राप्त करने वाला), तलवाकट व गोप (ग्रामों के विविध कर्मचारी) आदि अनेक राजपुरुष होते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकाल में भी राज्य व्यवस्था काफी विकसित थी और उसमें विविध राज्य-कर्मचारियों का महत्वपूर्ण स्थान था।

प्रश्न ३५. प्राचीन भारत की न्याय एवं दण्ड व्यवस्था के बारे में जो कुछ जानते हो लिखिये।

उत्तर—वैदिक काल में न्याय-व्यवस्था का क्या स्वरूप था इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं मिलते। वैदिक संहिताओं एवं परवर्ती वैदिक-साहित्य में सभा नामक एक जनसंख्या का अवश्य अनेक स्थलों पर विवरण मिलता है जो उस समय न्याय का समग्र कार्य करती थी। सभा के सदस्य केवल विद्वत्जन (विद्वान् अथवा अनुभवी) ही होते थे। ये सब मिलकर मुख्यता न्याय का ही कार्य करते थे। आज ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उस समय इस सभा का संगठन किस प्रकार होता था।

ऋग्वैदिक-काल में यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या कर देता था तो भी वह उसके सम्बन्धियों को कुछ धन आदि देकर उसकी हत्या से मुक्त हो सकता था। वस्तुतः उस समय 'खून के बदले खून' का नियम नहीं चलता था। ऋग्वेद में एक स्थल पर एक मनुष्य को शतदाय कहा गया है क्योंकि उसके प्राणों का मूल्य सौ गायें निर्धारित किया गया था। राजा के दण्डधर के लिये उग्र एवं जीवगृभ् अर्थात् जीवित पकड़ने वाला कहा गया है। वाद-विवादों के बीच में पड़कर फैसला करने वाले को मध्यमाशी कहा गया है। आगे चलकर तैत्तिरीय संहिता में ग्रामों में न्याय-कार्य करने वाले पञ्चों को 'ग्राम्यवादिन्' कहा गया है, ऋग्वेद में न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था के विषय में यही संकेत मिलते हैं।

उत्तर-वैदिक-काल में आकर सभा का रूप बहुत विकसित हो गया था। अब यह पूर्ण रूप से न्याय-संख्या हो गई थी। अथर्ववेद में सभा के सम्बन्ध में प्रयुक्त 'नरिष्टा' पद का सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि जहां बहुत से एकत्र होकर एक बात कहें, उसका उल्लंघन दूसरों को नहीं करना चाहिये। इससे यह पता चलता है कि सभा के निर्णय का अतिक्रमण करना सम्भव न था। सभा में व्यवहार सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करने के लिए एक निर्णायक होता था जो 'सभाचर' कहलाता था। 'सभाचर' अधिकांशतः कुलवृद्ध होते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'किल्विष-स्पृत्' अर्थात् अपराध में संष्पृष्ट व्यक्ति को अपराध से मुक्त किये जाने पर सभा से प्रसन्नतापूर्वक लौटते हुये कहा गया है जिससे सभा का न्याय-कार्य किया जाना स्वतः ही सिद्ध होता है। सम्भवतः इसी न्याय कार्य के कारण 'पारस्कर-गृह्य-सूत्र' में सभा को नादि तथा त्विषि अर्थात् शब्दवती और प्रकाशवती कहा गया है। शब्द का कारण सभा में होने वाला धर्म-निरूपण था तथा प्रकाश का कारण वह अग्नि थी जो सभाओं में दिव्य-

---

१. ऋग्वेद २.३२-४।

परीक्षा के लिये रखी जाती थी। मैत्रायणी संहिता में एक स्थल पर गांव के 'ग्राम्य-वादिन' की सभा का भी वर्णन किया गया है।

सूत्रकाल में अपराधियों को दण्ड देना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता था। गौतम धर्मसूत्र में एक स्थान पर कहा गया है कि यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को गाली दे तो उस पर १००, यदि वैश्य ब्राह्मण को गाली दे तो उस पर १५० कर्षापण का हो। इसके विपरीत यदि ब्राह्मण क्षत्रिय को गाली दे तो उस पर ५० तथा वैश्य को गाली दे तो २५ कर्षापण का दण्ड हो, किन्तु वह यदि शूद्र के साथ इस प्रकार का गाली देने का व्यवहार करे तो साफ छूट जाय। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार शूद्र द्वारा हत्या, चोरी या भूमि का अपहरण किये जाने के अपराध के फलस्वरूप उसकी सम्पत्ति का हरण कर उसे वध-दण्ड दिया जाना चाहिये। इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण पुरोहित ऐसा करे तो उसे अन्धा कर दिया जाना चाहिये। कानून का निर्माता अब भी राजा नहीं था। नियमों का व्यवहार वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग, पुराणों और उपवेदों आदि के द्वारा नियमित होता था। गौतम ने यह भी लिखा है—"राजा के लिये वर्णों और आश्रमों की रक्षा करना आवश्यक है....................जाति और कुल तथा जनपदों के वे सब नियम जो वेद-विरुद्ध नहीं हैं देश में प्रमाण स्वरूप माने जायेंगे और कृषक, वणिक्, गोपाल, वृद्धया जीजी और शिल्पी स्वयं अपने-अपने लिये नियम बना सकते हैं।"[1] इस प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि उस समय भी देश में एक प्रकार के स्वशासन का वातावरण था जिसका उपयोग कृषि, उद्योग-धंधे, वाणिज्य और व्यवहार के क्षेत्र में संगठित श्रेणियां (Guilds) या आर्थिक इकाइयां करती थीं। उस समय न्याय-कार्य करने के लिये धर्माधिकारियों की भी नियुक्ति की जाती थी। पूर्ण रूप से धार्मिक, तर्क-निपुण, कर्त्तव्य-परायण एवं निष्पक्ष विद्वान् व्यक्ति ही धर्माधिकारी (दूसरे शब्दों में आजकल के न्यायाधीश) चुन जाते थे।

बौद्ध काल तक आते-आते तो न्याय-व्यवस्था एवं दण्ड व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। इस युग में दण्डों का स्वरूप बड़ा ही कठोर हो गया था। अब अंग-भंग आदि शारीरिक कष्ट के दण्ड दिये जाने लगे थे। इसके अतिरिक्त अपराधियों को कोड़े भी लगवाये जाते थे तथा उन्हें हाथी के नीचे भी कुचलवा दिया जाता था। 'चुल्लवग्ग' में श्रावस्ती के राजकुमार तथा अनाथपिण्डक अथवा सुदत्त नाम के एक गृहपति के विवाद का वर्णन किया गया है जिसमें न्यायाधीश के निष्पक्ष न्याय करने का प्रयत्न करते हुये राजकुमार का पक्ष न लेकर गृहपति सुदत्त के पक्ष में अपना निर्णय दिया। इस प्रकार यह पता चलता है कि उस समय न्याय बड़ा ही निष्पक्ष होता था।

---

१. गौतम धर्मसूत्र, ११।२१।

बौद्ध-काल से आगे चलकर मौर्यकाल में आकर न्याय-व्यवस्था का स्वरूप और सुधरा। इस काल की न्याय-व्यवस्था का बड़ा विशद विवरण कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दिया है। मौर्यकाल में गांव के विवादों पर विचार करने के लिये गाँव में पंचायतें स्थापित थीं जिनमें न्यायाधीश का पद गोप अथवा ग्रामाधिकारी द्वारा ग्रहण किया जाता था। चोर अथवा जार पंचायत द्वारा गांव से वहिष्कृत कर दिया जाता था। नगरों में कुछ न्यायालय होते थे जिनमें आसपास के दस गांवों के विवादों का निर्णय किया जाता था। इनके ऊपर ४०० गांव वाले नगरों अथवा द्रोणमुखों के न्यायालय थे। इन सबके ऊपर स्थानीय अथवा जिले का न्यायालय था। इनके ऊपर साम्राज्य के दो प्रदेशों के मध्य भाग के न्यायालय तथा इनके ऊपर पाटिलपुत्र के न्यायालय थे तथा सबसे ऊपर सम्राट का न्यायालय था जिसमें न्यायकर्त्ताओं के साथ बैठकर सम्राट् व्यवहार पर विचार करता था।[1] कौटिल्य ने दो प्रकार के न्यायाधीशों का उल्लेख किया है—प्रथम धर्मस्थीय न्यायालय, जिसका प्रधान न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाता था, तथा कण्टकशोधन न्यायालय जिसका प्रधान न्यायाधीश प्रदेष्टा कहा जाता था। इस समय किसी अपराधी को दण्ड देने से पूर्व उसके अपराध का भली प्रकार विचार कर लिया जाता था। बड़े अपराधों को साहस कहा जाता था। छोटे साहस के लिये छोटा ही दण्ड नियत था किन्तु बड़े साहस के तीन भेद किये जाते थे प्रथम साहस, मध्यम साहस तथा उत्तम साहस। प्रथम साहस का दण्ड ४८ से ९६ पण, मध्यम साहस का दण्ड २०० से ५०० पण तथा उत्तम साहस का दण्ड ५०० से १००० पण तक होता था। साधारण अपराधों के लिये साधारण दण्ड ही दिये जाते थे।

इस प्रकार प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी।

प्रश्न ३६. प्राचीन काल के भारत में गणराज्यों का वर्णन कीजिये।

उत्तर—भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में प्रजातन्त्र शासनप्रणाली का विकास हो चुका था। वैदिक काल में अनेक ऐसे संकेत मिलते हैं जिससे पता चलता है कि उस समय भी जनसामान्य में पर्याप्त राजनैतिक जागृति हो चुकी थी। लोग अपने अधिकारों को भली प्रकार समझते थे तथा उनके उपयोग करने का उचित ढंग भी जानते थे। इस प्रकार के वातावरण में ही, भारत में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का जन्म एवं विकास हुआ।

सम्भव है कि वैदिक काल में प्रजातन्त्र का पूर्ण विकास न हुआ हो किन्तु उस समय का वातावरण प्रजातन्त्र के भावों से पूर्णतया व्याप्त था। ऐतरेय ब्राह्मण में भारत के पश्चिमी भाग में स्वराज्य शासन-विधान का उल्लेख किया गया है जहाँ का शासक स्वराट् कहलाता था। आगे चलकर अष्टाध्यायी, बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र,

---

१. देखिये अम्बिका प्रसाद बाजपेयी—हिन्दू राज्यशास्त्र पृष्ठ २०४।

महाभारत आदि ग्रन्थों में अनेक गणराज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने के समय भारत में अनेक गणराज्य विद्यमान थे । प्राचीन काल में प्रजातन्त्र का पारिभाषिक नाम संङ्घ था। संङ्घ दो प्रकार के होते थे, गण, जिसमें चुने हुये सदस्य रहते थे तथा कुल, जिसमें वंशक्रमागत सदस्य रहते थे। यहां केवल गणों के विषय में ही विचार करना अपेक्षित है।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में अनेक सङ्घों का नामोल्लेख किया है किन्तु पाणिनि के वर्णनों से यह स्पष्ट पता नहीं चलता कि सङ्घ गण थे अथवा कुल। अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के समकालीन इतिहासकारों ने क्षुद्रक तथा मालव नामक सङ्घों का उल्लेख किया है। पुराणों में अन्धक-वृष्णि नाम के एक सङ्घ का भी नाम आया है। इन सबसे भी यह स्पष्ट रूप से पता नहीं चलता कि ये सङ्घ गण थे अथवा कुल। बौद्ध-साहित्य में आकर अनेक गणराज्यों का स्पष्ट रूप से पता चलता है। बौद्ध साहित्य में उल्लिखित प्रमुख गणराज्य निम्नलिखित हैं—

१. **शाक्य जनपद**—महात्मा बुद्ध का जन्म शाक्य-वंश में ही हुआ था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी। इस जनपद के अन्तर्गत अनेक नगर थे । इस गणराज्य में एक संसद थी जिसकी बैठकें 'सन्थागार' नामक भवन में हुआ करती थी। सारे गणराज्य का अध्यक्ष राजा होता था तथा वही संसद की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता था। इसकी संसद के सदस्यों की संख्या ५०० थी। अधिकाँश निर्णय बहुमत द्वारा ही किये जाते थे। यह जनपद शिक्षा एवं सामाजिक प्रगति के क्षेत्र में भी खूब बड़ा था। कोई पिता अपनी कन्या-अशिक्षित वर को प्रायः नहीं देता था।

२. **कोलिय**—कोलिय गणराज्य शाक्य-जनपद की सीमा से मिलकर बहने वाली रोहिणी नदी के दूसरी ओर था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि इस नदी पर एक बांध बना हुआ था, जिसमें एकत्रित हुआ पानी दोनों गणराज्य अपने-अपने क्षेत्रों में सिंचाई के लिये उपयोग करते थे। कभी-कभी इन दोनों में पानी के सम्बन्ध में झगड़े भी हो जाते थे। इस प्रकार के झगड़े का निपटारा एक बार स्वयं गौतम बुद्ध ने किया था।

इस गणराज्य की राजधानी रामगाम थी जिसको कोल-नगर अथवा व्यग्घपज्ज भी कहते थे। इसमें अन्य अनेक नगर भी थे। कोलिय अपनी पुलिस-व्यवस्था के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। ये अपने नाम के आगे व्यग्घपज्ज जोड़ते थे।

३. **मल्ल**—इस गणराज्य की दो शाखाएं थीं, एक पावा में तथा दूसरी कुशीनारा में। पावा राजा शान्तिपाल के यहां रहते हुये महावीर स्वामी कैवल्य को प्राप्त हुये थे । काशीनारा में महात्मा बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुये थे । इन दोनों स्थानों की दूरी अधिक नहीं थी । इन दोनों स्थानों पर रहने वाले मल्ल क्षत्रिय तथा सेट्ठ अर्थात् वशिष्ठ गोत्र के थे। मल्ल-राज्य के नये संसद-भवन 'उब्भटक' का उद्घाटन महात्मा बुद्ध के द्वारा किया गया था। कुशी-

नारा से जिस समय महात्मा बुद्ध के निर्वाण का समाचार पावा पहुँचा था तो उस समय पावा में हो रहा संसद का अधिवेशन भंग कर दिया गया था । विद्याध्यन के क्षेत्र में भी इन्होंने काफी उन्नति की थी। इस गणराज्य में महात्मा बुद्ध के अतिरिक्त महावीर स्वामी के काफी अनुगामो थे । मल्लों के लिच्छिवियों से प्रायः युद्ध होते रहते थे।

४. विदेह—वैदिक साहित्य एवं महाकाव्यों में विदेह का वर्णन एक राजतन्त्र राज्य के रूप में किया गया है किन्तु बौद्ध साहित्य में इसका वर्णन एक प्रमुख गणराज्य के रूप में किया गया है। इस गणराज्य की राजधानी मिथिला थी जो बौद्ध-काल में व्यापार का एक महान केन्द्र थी। जातकों के अनुसार इस गणराज्य में १६,००० गांव थे तथा यहां ६ लाख सिक्के प्रतिदिन दान में दिये जाते थे।

५. लिच्छिवि—यह जनपद पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार के पर्वतों की तराइयों में था। इसकी राजधानी वैशाली थी । महावीर स्वामी का जन्म यहीं हुआ था।

(लिच्छिवि गणराज्य का विशेष विवरण पिछले प्रश्न में यथास्थान पढ़िये।)

इनके अतिरिक्त भग्ग, मोरिय कालाम, नाय आदि गणराज्यों का भी बौद्ध-साहित्य में यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है।

इन सभी गणराज्यों में लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली अपनाई गई थी। उस समय लोकतन्त्रात्मक विधि इतनी सफल हुई थी कि जीवन के न केवल राजनैतिक क्षेत्र में वरन् आर्थिक एवं धार्मिक व्यवहार के क्षेत्र में भी इसी विधि से कार्य किया जाता था। महात्मा बुद्ध ने भी इनकी कार्यविधि का अनुसरण कर बौद्ध-संघो में इसी कार्यविधि को स्थान दिया था।

जन सभाओं अथवा संसदों में होने वाले महत्वपूर्ण वाद-विवादों के द्वारा होने वाले निर्णयों से ही शासन अनुशासित रहे, ऐसा उस समय लोकतन्त्र का तत्व समझा जाता था। इन गणराज्यों के सङ्घ अथवा संसद की बैठकें सथागार अथवा ओराम नामक स्थान पर हुआ करती थीं। आसनों की व्यवस्था एक विशेष अधिकारी द्वारा की जाती थी जिसे 'आसन-प्रज्ञापन' कहते थे।

सङ्घ अथवा संसद में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न न्यूनतम उपस्थिति संख्या निर्धारित की गई थी। इस न्यूनतम-उपस्थिति संख्या (Quorum) को पूरा कराने के लिये भी एक विशेष अधिकारी पुरुष होता था। गणपरिषदों में अधिकांश निर्णय प्रचुर वाद-विवाद के पश्चात् बहुमत द्वारा किए जाते थे जिन प्रस्तावों पर कोई मत वैभिन्य नहीं होता था वे बिना किसी प्रकार के वाद-विवाद के ही सर्व-सम्मति से स्वीकृत समझे जाते थे। संघ का अध्यक्ष विनयधर कहलाता था। सर्व-प्रथम किसी ज्ञप्ति (Motion) का संघ में स्थापन (Presentation) होता था। तत्पश्चात् उसका अनुश्रवण (Regular Proclamation) होता था जिससे सब उसे भली

प्रकार सुन लें। इसके पश्चात् ही उस पर वाद-विवाद होता था तथा वह ज्ञप्ति स्वीकृत या अस्वीकृत होता था।

मत के लिये बौद्ध-साहित्य में 'छन्द' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ होता है स्वतन्त्रता। मतदान शलाकाओं के द्वारा सम्पन्न होता था। विभिन्न विचारों को प्रगट करने के उद्देश्य से शलाकायें भी विभिन्न वर्णों की ही होती थीं। इन शलाकाओं को एकत्रित करने वाला अधिकारी 'शलकाग्राहापक' कहलाता था। मत लेने के चार ढंग थे—१. गुह्यक, २. स्वकर्णजल्पक, ३. विवृत्तक तथा ४. विस्वस्त। इन चारों विधियों का वर्णन चुल्लवग्ग में प्राप्त होता है। यदि कोई विषय बहुमत से भी निर्णय नहीं हो पाता था तो संसद या संघ एक उपसमिति बना देता था जिसे उब्बहिका (उद्वाहिका) कहते थे तथा जो उक्त विषय का निर्णय करती थी। संघ की सारी कार्यवाही लिखी जाती थी और उसके लिये लेखक भी होते थे। कुछ ऐसे अधिकारी भी होते थे जो संघ अथवा संसद में होने वाले वाद-विवादों को उसी समय लिखते जाते थे (जैसे आजकल के स्टैनोग्राफर)।

कुछ इतिहासकारों ने अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के भारत पर आक्रमण के समय भारत पर मालव, यौधेय और क्षुद्रक आदि गणराज्यों का होना बताया है किन्तु कुछ दूसरे इतिहासकारों के अनुसार ये गणराज्य नहीं स्वीकार किये जाते हैं। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि भारत में गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित थी। यह हो सकता है कि उस समय के लोकतन्त्र का स्वरूप आजकल के जनतन्त्र से भिन्न रहा हो।

धीरे-धीरे राजा की शक्ति और अधिकारों में वृद्धि हुई। युद्धों के लिये प्रदान की गई शक्ति अब स्वाभाविक सत्ता के रूप में परिणत हो रही थी। अब राजा की शक्ति पर नियन्त्रण लगाने के लिये 'सभा' और 'समिति' नाम की दो संस्थाओं का निर्माण प्रजा द्वारा किया गया। ये संस्थायें राज्य-कार्यों के संचालन में राजा की सहायता करती थीं। ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक-साहित्य में इन संस्थाओं का प्रचुर वर्णन प्राप्त होता है। (विद्यार्थी सभा और समिति के विषय में विस्तार से जानने के लिये प्रश्न ३६ का उत्तर पढ़ें।) इन संस्थाओं द्वारा राजा सहज में ही प्रजा का विश्वास एवं भक्ति प्राप्त कर लेता था।

आगे चलकर उत्तर-वैदिक-काल में राजा को अनेक शक्तियां और भी प्रदान की गईं। इतना होते हुये भी राज्य में प्रजा के बहुत अधिक अधिकार थे और राजा पूर्णतया निरंकुश न था। अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर राजा के चुनाव होने का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय राजा पर प्रजा का सर्वाधिकार कठोर नियन्त्रण प्रजा द्वारा राजा चुनाव होना ही था। दूसरी ओर राजा भी जनता की भक्ति और समर्थन प्राप्त करने के लिये अत्यधिक उत्सुक रहते थे। राज्याभिषेक के समय राजा से कराई जाने वाली प्रतिज्ञाओं एवं अन्य विधियों से भी

यही ज्ञात होता है कि प्रजा ही राजा को समस्त शक्ति एवं अधिकार प्रदान करती थी। उस समय प्रजा राजा से इन अधिकारों एवं शक्तियों को छीन भी सकती थी क्योंकि प्रायः राजाओं को गद्दी से उतार अथवा राज्य से बहिष्कृत भी कर दिया जाता था। वास्तव में तो उस समय राज्य राजा को निक्षेप के रूप में सौंपा जाता था तथा कोई राजा राज्य का अधिकारी तभी तक रह सकता था जब तक प्रजा का कल्याण दिन-प्रतिदिन अधिक वृद्धि को ही प्राप्त होता रहता था। इस प्रकार उत्तर-वैदिक-काल में राजा को लिया जाता था और आगे चलकर राजा उपज का षष्ठांश ही ग्रहण करने लगा था। घृत, दुग्ध, वृक्ष, औषधि, नमक एवं फल आदि का छठवाँ भाग ही राज्य द्वारा ग्रहण किया जाता था। महाभारत में इस प्रकार शास्त्रानुसार एकत्र किया हुआ बलि का छठा भाग, शुल्क और अपराधियों का दण्ड वेतन के रूप में राजा की आय कहा गया है।[1] महाभारत में ही एक स्थान पर राजा को यह आदेश भी दिया गया है कि वह इस प्रकार करों आदि से प्राप्त धन को प्रजा के ही कल्याण में लगावे।

आगे चलकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र तक आते-आते शिल्प, व्यापार एवं राज्य-कार्यों का बहुत अधिक विकास हुआ तथा राज्य की आय के स्रोतों में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। कौटिल्य ने निम्नलिखित करों का वर्णन किया है।

१. **दुर्गकर**—दुर्ग अर्थात् नगर से होने वाली आय के २१ भेद थे—पाश शुल्क, वण्ड, पौतव, नागरिक लवणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, ज्ञार, सौवर्णिक, पण्यसंस्था, वेश्या, द्यूत, वास्तुक, कारुशिल्पीगण, देवताध्यक्ष, द्वार और बाह्रिरिकादेय। शुल्क का अर्थ होता है चुंगी तथा दण्ड का अर्थ है जुर्माना। पौतव बाट, तराजू और तुलाई का कर है। इसी प्रकार अन्य कर भी दुर्ग अथवा नगर के विभिन्न व्यापारों से प्राप्त होते थे।

२. **राष्ट्रकर**—इसके अन्तर्गत ग्रामों या जनपदों में से होने वाली आय आती थी इसके भी १३ भेद थे—सीता, भाग, बलि, कर, वणिक्, नदीपाल, तर, नाव, पट्ठन, विनीत, वर्त्तिनी, रज्जू और चोरज्जू। सीता राजकीय खेतों से होने वाली आय थी। प्रजा के खेतों में उपजने वाले अन्न का राज्य भाग राज कहलाता था। बलि उपहार व राजा में धर्मकार्य का कर था। कर फलों व वृक्षों का टैक्स था। इसी प्रकार दूसरे कर भी ग्रामों एवं जनपदों से ही सम्बद्ध थे।

३. **खनि**—इसमें सोना चाँदी आदि विभिन्न धातुओं की खानों से होने वाली आय आती थी।

४. **सेतु**—इसमें शाक की खेती एवं उद्यागों तथा वाटिकाओं से मिलने वाला कर आता था।

---

१. महाभारप शां० अ० ७१।१०।

५. **वन**—इसके अन्तर्गत वनों से होने वाली आय रखी जाती थी।

६. **व्रज**—इसमें राज्य की पशुशालाओं से होने वाली आय जाती थी।

वणिक्-पथ—व्यापारिक मार्ग दो प्रकार के थे—एक स्थल मार्ग तथा दूसरा जल-मार्ग। इन दोनों प्रकार के मार्गों से होने वाली आय इसके अन्तर्गत रखी जाती थी।

ये राज्य की आय के कुछ प्रमुख साधन थे किन्तु इनके अतिरिक्त राज्य की आय के कुछ छोटे मोटे साधन और भी थे।

इसी प्रकार और आगे गुप्त-काल तक आते-आते तो भारतीय राजस्व के स्रोतों में बहुत अधिक उन्नति हो गई थी।

प्रश्न ३८. सभा एवं समिति के विषय में आप जो कुछ जानते हों लिखिये।

उत्तर—वैदिक युग के राष्ट्रों का शासन अकेला राजा ही नहीं करता था, अपितु उसकी सहायता के लिये सभा और समिति नाम की दो संस्थायें भी विद्यमान थीं। अथर्ववेद के एक सूक्त में इन संस्थाओं के स्वरूप पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है जो इस प्रकार है—निश्चय ही पहले 'विराट्'(अराजक या राज्य-संस्थाविहीन) दशा थी, इस दशा के उत्पन्न होने के कारण सब डरे कि क्या सदा यही दशा रहेगी। इस विराट् दशा में उत्क्रान्ति (परिवर्तन, विकास) हुई, यह विराट दशा पार्हपत्य दशा में उत्तरी, इस पार्हपत्य संगठन में भी उत्क्रन्ति हुई, और वह गार्हपत्य दशा 'आहवनीय' दशा के रूप में परिणित हुई। इस माहनवीय संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, जिससे 'दक्षिणाग्नि' की दशा आई। जो कोई यह जानता है यह वसती में निवास के योग्य होता है। इस दक्षिणानि दशा में भी उत्क्रान्ति हुई और सभा की दशा आई। जो कोई यह जानता है वह सभा का सभ्य बनता है। सभा की इस कला में भी उत्क्रान्ति हुई, और समिति की दशा आई। जो कोई यह समझता है यह समिति का सामितेय बनता है। इस समिति की दशा में भी उत्क्रान्ति हुई, और 'आमन्त्रण' की दशा आई। जो यह जानता है वह आमन्त्रण का आमन्त्रीय बनता है।[1]

---

१. 'विराड वा इत्मग्र आसीत्, तस्या जातयाः सर्वमविभेदयवेद भविष्यतीति। सोमक्रामत् सा गार्हपत्ये न्याक्रमत्। सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत्। सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रमात्। यज्ञातों दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद। सादक्रामत् या सभायां न्यक्रामत्। यन्त्यस्य सभां सभ्यौ भवति य एवं वेद। सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्। यन्त्यस्य समिति सामित्यो भवति य एवं वेद। सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत्। यन्त्यास्यमन्त्रणमान्त्रणीवा भव त एवं वेद।"

—अथर्ववेद ८।१०।१

अथर्ववेद का यह सूक्त तथा इसका हिन्दी अनुवाद डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार रचित 'प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राज्यशास्त्र' नामक पुस्तक के पृष्ठ ४४-४५ से उद्धृत।

सम्भवतः यह एक प्राचीनतम उल्लेख है जिसमें कि राजसंस्था की उत्पत्ति और विकास पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः मानव समाज एवं राज्य के प्रादुर्भाव तथा विकास का क्रम कुछ ऐसा ही है। सर्वप्रथम परिवार संगठित हुये तथा फिर ग्राम, जन और जनपदों का संगठन हुआ। आज दक्षिणाग्नि व आमन्त्रण जैसे शब्दों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है, पर सभा और समिति नामक संस्थाओं का उल्लेख वैदिक-साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। वैदिक-साहित्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि सभा और समिति में क्या भेद था, फिर भी वैदिक मन्त्रों का अनुशीलन कर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि समिति सभा की तुलना में एक बड़ी संस्था थी। अब सभा और समिति के स्वरूप पर पृथक्-पृथक् विचार कर लेना उचित होगा।

सभा—सभा एक सुसंगठित संस्था थी जिसके सदस्य 'सभ्य,' 'सभेय', 'सभासद' या 'सभासीन' कहलाते थे। सभा का अध्यक्ष 'सभापति' कहलाता था। सभा में एक प्रधान रक्षक भी होता था जिसे सभापाल कहते थे। सभा एक प्रकार की ऐसी संसद थी जो प्रजा के कार्यों का वाद-विवाद से निर्णय करती थी। सभा में बोलने के भी कुछ नियम निश्चित थे। सभा में अधिकाँश निर्णय बहुमत से ही होते थे। अन्त में सभा का एक और महत्वपूर्ण कार्य भी था और वह था न्याय सम्बन्धी कार्यों की को करना। अथर्ववेद में सभा का एक विशेषण 'नरिष्ट'[1] कहा गया है जिसकी व्याख्या सायणाचार्य ने इस प्रकार की है—"जहां बहुत से एकत्र होकर एक बात कहें, उसका उल्लंघन दूसरों को नहीं करना चाहिये क्योंकि यह 'अनतिलध्य' होती है इसीलिये इसे 'नरिष्ट' कहते हैं।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सभा के निर्णय का अतिक्रमण करना सम्भव नहीं था। ऋग्वेद में एक स्थान पर सभा को 'किल्विष-स्पृत' अर्थात् पाप या अपराध का परिमार्जन कराने वाला कहा गया है।[3] इससे भी सभा के न्याय सम्बन्धी कार्य करने के तथ्य की पुष्टि होती है। सभा उस समय पितरों की संस्था थी। वैदिक साहित्य में पितर शब्द का प्रयोग वृद्धों के लिये किया गया है।

समिति—समिति सभा की तुलना में एक बड़ी संस्था थी तथा वह सम्पूर्ण विशः या प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी। समिति में राजा भी उपस्थित होता था। राजा के अतिरिक्त इसमें सब ग्रामों के ग्रामीणी तथा कतिपय प्रमुख व्यक्ति—सूत, रथकार व अन्य शिल्पी आदि भी उपस्थित रहते थे। समिति का अध्यक्ष

---

१. "विद्यते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।" अथर्ववेद ६।१२'२।

२. "बहव सम्भूय यद्येके वाक्यं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलध्यम्। अतः अनतिलध्य-वाक्यत्वात् नरिष्टेति नाम।"

३. ऋग्वेद १०।७१।१०।

ईशान कहलाता था तथा इसके सदस्य सामितेय कहलाते थे । समिति ही राजा का चुनाव करने वाली प्रमुख संस्था थी । यदि राजा ठीक प्रकार से कार्य न करे तो समिति उसे अपदस्थ भी कर सकती थी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का उल्लेख भी आया है कि राजा के लिये शत्रुओं को पराजित करने तथा सिंहासन पर अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिये समिति का सहयोग अति आवश्यक है ।

वैदिक काल में सभा और समितियों के सदस्यों का परस्पर सहयोग से कार्य करना आवश्यक समझा जाता था । यह भी आवश्यक समझा जाता था कि सभा और समिति के सदस्यों के मन एक हों, उनकी वाणी एक हो, उनका विचार विमर्श एक समान हो और वे एक ही मन्त्र (नीति) का निर्धारण करें ।[1]

प्रश्न ३९. प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था में लोकतन्त्रात्मक तत्त्वों की समीक्षा कीजिये ।

उत्तर—प्राचीन भारत में जबसे शासन-व्यवस्था का स्वरूप कुछ-कुछ निश्चित हुआ तभी से हमें यहां की शासन व्यवस्था में लोकतन्त्रात्मक तत्वों की सत्ता विद्यमान दिखलाई पड़ती है । प्राचीनतम शासन व्यवस्था के सूत्र ऋग्वेदकालीन शासन व्यवस्था में मिलते हैं । ऋग्वेदीयकाल में भी राजतन्त्र स्वच्छन्द नहीं था । उस समय राजा की शक्ति सीमित थी । राजा अपना कार्य सभा और समिति नाम की दो संस्थाओं की सहायता से ही करता था । सभा और समिति का शासन-कार्य पर पूर्ण नियन्त्रण होता था । ये ही जनहित के कार्यों के महत्वपूर्ण निर्णय करती थीं तथा राजा का चुनाव करती थीं ।

उत्तर-वैदिक-काल की शासन-व्यवस्था में भी अनेक लोकतन्त्रात्मक तत्व विद्यमान थे । डा० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार इस काल के शासन-तन्त्र में लोकतन्त्र के निम्नलिखित महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान थे—(१) राजा के चुनाव में प्रजा की सम्मति की महत्ता । (२) राजा के सिंहासनारूढ़ होते समय राजा के राजधर्म आदि के पालन की प्रतिज्ञा कराई जाना । (३) राजा का अपने मन्त्रिमण्डल पर निर्भर रहना तथा (४) सभा एवं समिति नामक संस्थाओं द्वारा राजा के अधिकारों को नियन्त्रित किया जाना ।[2] इस प्रकार अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मण में भी अनेक ऐसे संकेत मिलते हैं जिससे उस काल के शासन-तन्त्र में अनेक लोकतन्त्रात्मक तत्वों के विद्यमान होने की सूचना मिलती है ।

सूत्रग्रंथों एवं स्मृतियों में भी अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिससे उस समय के शासनतन्त्र में लोकतन्त्र का प्रमुख हाथ होना सूचित होता है । वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार राजा को मन्त्रियों के साथ-साथ नागरों जी सम्मति लेना की आवश्यक

---

१. देखिये—१०।१९१।२-४ ।

२. राधाकुमुद मुखर्जी—हिन्दू सभ्यता (अंग्रेजी) पृष्ठ ९९ ।

समझा जाता था। रामायण, महाभारत आदि के काल में राजा को अपना शासन-कार्य परिषदों की सहायता से करना पड़ता था, ये परिषदें राजा की स्वेच्छाचारिता पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखती थीं। वाल्मीकि रामायण से यह भी ज्ञात होता है कि राज्य के उत्तराधिकारी का निर्णय करने में परिषद का महत्वपूर्ण हाथ रहता था। यही कारण था कि राम को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित करने से पूर्व दशरथ को इस आशय का एक प्रस्ताव परिषद् में रखना पड़ा था तथा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर ही वे राम के राज्य का उत्तराधिकारी होने की घोषणा कर सके थे। यह बात दूसरी है कि राजा की प्रिय रानी कैकेयी की बाधा के फलस्वरूप राजा की घोषणा कार्य रूप में परिणत न हो सकी। उस काल में परिषद् में पुर-सभा के सदस्य, ग्रामों के ग्रामीण, सेनानायक, पुरोहित तथा कतिपय अन्य विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित होते थे। महाभारत के शान्तिपर्व में ऐसी राज परिषद् के निर्माण का वर्णन किया गया है। उस काल में राजा को गद्दी से उतारा भी जा सकता था। महाभारत से ज्ञात होता है कि 'बेन' एवं 'खनीनेत्र' आदि राजाओं को पदच्युत किया गया था। इस काल में कुछ ऐसे राजा भी होते थे जो गणतन्त्रों के मुखिया मात्र ही होते थे। महाराज श्रीकृष्ण भी इसी प्रकार के 'अन्धकवृष्णि' संघ के गण मुख्य थे। इस काल में राजाओं के लिये वेद, धर्मशास्त्र, शील, आचार आदि के द्वारा निर्धारित नियमों का भी पूर्णरूपेण पालन करना पड़ता था।

बौद्ध-काल तक आते-आते तो देश में अनेक गणराज्य स्थापित हो गये थे। पालि-साहित्य में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे उस काल के बौद्ध-संघों की जनतन्त्रात्मक कार्यवाही का ज्ञान होता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि बौद्ध-युग में न केवल शासन-तन्त्र में वरन् धर्म के क्षेत्र में भी लोकतन्त्रात्मक तत्व विद्यमान थे। (बौद्धकाल के गणराज्यों का विशद विवरण प्रश्न २३ के उत्तर से पढ़िये)।

सिकन्दर ने जिस समय भारत पर आक्रमण किया था, उस समय भी भारत में मालव, योधेय तथा क्षुद्रक आदि गणराज्य विद्यमान थे।

इस प्रकार यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि भारत के शासन में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही लोकतन्त्र के कुछ न कुछ तत्व विद्यमान थे और परवर्ती काल में में तो यहाँ अनेक सशक्त प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य भी स्थापित हो गये थे।

प्रश्न ४०. प्राचीन काल में राजा की शक्ति के कौन कौन से स्रोत थे ?

उत्तर—इससे पूर्व कि हम देखें कि प्राचीन काल में राजा की शक्ति के स्रोत कौन-कौन से थे, यह खोजना अधिक समीचीन होगा कि राजा के पद का उद्‌भव आखिर हुआ कैसे होगा ? अथर्ववेद में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि प्रारम्भ में यह (सारा जनपद या राष्ट्र) विराट् अर्थात् राजा से रहित था। इस प्रकार की

स्थिति देखकर लोग भयभीत हुये कि क्या सदा ऐसा ही रहेगा।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि जब असुरों और देवताओं की लड़ाई में देवता लोग हार गये तब उन्होंने सोचा कि हमारा कोई राजा न होने से ही हमें असुर हरा देते हैं। अब आओ हम सब मिलकर एक राजा निर्वाचित करें। सबने इसे स्वीकार किया और सोम को राजा बनाया।[2] मनुस्मृति में लिखा है कि इस राजविहीन लोक अर्थात् देश में जब सब लोग भय से इधर उधर भागने लगे तब इसकी रक्षा के लिये परमेश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के अंशों को लेकर राजा की सृष्टि की।[3] महाभारत में जब युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि सब मनुष्यों के हाथ, पैर, नाक, कान, गर्दन, भुजायें और बुद्धि होती है तथा सभी समान भाव से सुख दुःख भोगते हैं, तब उस एक मनुष्य अर्थात् राजा में ऐसी क्या विशेषता है कि यह औरों का शासन करता है? उत्तर में भीष्म ने कहा कि हे नरशार्दूल! सुना जिस प्रकार सतयुग में राजा उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था न राजा था न दण्ड था न दाण्डिक (दण्ड देने वाला), धर्म से ही सब प्रजा परस्पर की रक्षा करती थी।[4] इस प्रकार इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो ही जाता है कि पहले राजा नहीं था पीछे से बनाया गया किन्तु मनुस्मृति, जहां एक ओर बतानी है कि राजा की सृष्टि परमेश्वर के द्वारा की गई है वहां ऐतरेय ब्राह्मण का कहना है कि लोगों ने स्वयं अपना राजा चुना। आज के युग में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है ही अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। फिर ऐतरेय ब्राह्मण को वेद ही माना जाता है तथा श्रुति और स्मृति के विरोध में श्रुति ही प्रमाण मानी जाती है, इस आधार पर भी ऐतरेय ब्राह्मण का कथन ही प्रमाण बनता है।

अति प्राचीनकाल में राजा युद्ध के समय नेतृत्व करता था। उसे 'पुरा भेत्ता' कहा जाता था क्योंकि वह शत्रु के दुर्गों का भेदन करता था। इसके अतिरिक्त जन की रक्षा करने के कारण उसे 'जनस्य गोप्ता' भी कहा जाता था। इसके साथ-साथ राजा को अनेक अधिकार भी प्राप्त थे। अतः प्रजा अपनी इच्छा से राजा की आज्ञाओं का पालन करती थी। कुछ निश्चित अवस्थाओं में राजा प्रजा को उसकी इच्छा के विपरीत भी अपनी आज्ञा का पालन करवाने के लिये बाध्य कर सकता था। राजा प्रजा से कई प्रकार के कर भी ग्रहण करता था जिसे वैदिक साहित्य में बलि कहा गया है तथा इसी कारण राजा को 'बलिहृत' कहा गया है। न्याय करने और दण्ड देने का अधिकारी पुरुष भी राजा ही था। इन कार्यों के संचालन के लिये वह अनेक साधनों

---

१. अथर्ववेद १०।८।१।
२. ऐतरेय ब्राह्मण १।३।१४।
३. मनुस्मृति ७।४।५।
४. महाभारत शांतिपर्व अध्याय ५८।१३—१४।

से शक्ति प्राप्त करता था। 'पुरोहित' राजा को उसके धार्मिक कार्यों में योग देता था। 'सेनानी' लोग युद्धों में राजा की सहायता करते थे तथा 'ग्रामणी' शासन सम्बन्धी कार्यों में राजा का हाथ बंटाते थे।

प्रश्न ४१. प्राचीन भारत में, राज्य की आय के साधनों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—ऋग्वेदीय काल में आर्यों के अर्थप्राप्ति के साधन केवल कृषि एवं उनके पशु ही थे। इस समय कृषि का एक नियतांश ही राज्य को कर के रूप में दिया जाता था तथा इसे बलि कहा जाता था। यह अंश कृषि का कौन सा भाग था इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इस समय हस्तोद्योग आदि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही थे। अतः उनसे राज्य को किसी प्रकार की आय होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

उत्तर-वैदिक-काल में आकर 'भागदुघ' नाम के राज्य के प्रमुख अधिकारी का नामोल्लेख हुआ है जिसका कार्य प्रजा से विभिन्न करों की वसूली करना था। यहां भी करों के विषय में कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं होता है।

आगे चलकर उद्योग-धन्धों एवं व्यवसायों में काफी प्रगति हो गई थी। अब अर्थात् लगभग सूत्र एवं स्मृति-काल में विभिन्न उद्योग-धन्धों एवं व्यापारों से भांति-भांति के कर प्राप्त किये जाने लगे थे। इस काल में करों को शुल्क कहा जाता था तथा यह व्यापारी अथवा शिल्पी तथा राजा दोनों का विचार करके ही नियत किया जाता था। राजा के लिए उचित से अधिक शुल्क लेना धर्मानुसार निषिद्ध घोषित कर दिया गया था। राजा के लिए यह आदेश था कि वह शुल्क नियत करते समय क्रय-विक्रय, मार्ग, भोजन एवं योगक्षेम आदि के व्यय का विचार रखे। महाभारत के अनुसार प्रजा ने मनु को कोषवृद्धि के लिए पशुओं एवं हिरण्य का पचासवां भाग देना निश्चित किया था।[1] अन्न का छठा, आठवां या बारहवां भाग भूमि की दशा को दृष्टि में रखकर अधिकांशतः प्रजा द्वारा सौंपी गई शक्तियों का ही प्रयोग करता था तथा वह मन्त्रियों की सलाह से ही राज्य के अधिकतर कार्य सम्पादित करता था।

आगे चलकर सूत्र एवं स्मृतियों के रचना-काल तक आते-आते राजा की शक्तियां और भी अधिक बढ़ गयीं। सूत, रथकर, मागध, कर्मार आदि भी प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में राजा के कर्मचारियों में सम्मिलित हो गये थे। अब राजा के अधीन कितने ही जनपद हो गये थे। सभा और समिति के स्वरूप में भी अब परिवर्तन हो गया था। अब राजा को अनेक सरदारों एवं सामन्तों की सहायता भी प्राप्त होने लगी थी। इस काल में राजा की शक्ति के प्रमुख साधन सेना सामन्त राजकोष, मन्त्री और अन्य अनेक राज्याधिकारी थे। अब राजा प्रायः सर्वाधिकार सम्पन्न हो चला था। राज्य के सभी कर्मचारी तभी तक अपने पदों पर स्थिर रह सकते थे जब तक वे

---

१. महाभारत शां० अ० ६७।२३।

राज्य के प्रति अपनी भक्ति रखते हों। सभा और समिति जैसी संस्थायें अब केवल राजा को परामर्श देने का ही कार्य करती थीं। अब उनके राजा पर नियन्त्रण रखने के कार्य का प्रायः लोप हो चुका था। अब राजा की स्वच्छन्दता पर रोकथाम लगाने में ये सभा एवं समितियाँ समर्थ नहीं रह गई थीं। यह सब कुछ होते हुए भी धर्म-शास्त्रों एवं स्मृतियों के द्वारा निर्देश किये गये कर्त्तव्यों का पालन करना प्रत्येक राजा के लिये अब प्रमुख रूप से अनिवार्य हो गया था। धर्म का पालन न करने वाला राजा प्रजा की दृष्टि में हेय हो जाता था, प्रायः गद्दी से भी उतार दिया जाता था। महाभारत में इसी प्रकार से राजा वेन को उतारे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे इस तथ्य की अच्छी पुष्टि होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से ही प्रजा एवं उसके प्रतिनिधिगण ही राजा की शक्ति के स्रोत रहे हैं। प्रारम्भ में राजा का निर्माण प्रजा के द्वारा ही किया गया था। धीरे-धीरे अपनी योग्यता एवं कुशलता के आधार पर राजा ने प्रजा से अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर लिये और यहां तक कि वह सर्वाधिकारी बन गया। (इस प्रश्न के उत्तर में, बौद्ध काल एवं परवर्ती-कालों में राजा की शक्ति के मूल स्रोत थे, इस प्रकार का विवेचन करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है, इसलिये यह विषय जान-बूझकर यहीं पर समाप्त कर दिया जाता है फिर बौद्ध-काल में अधिकांशतः राजा ही सब कुछ हो गये थे और उनके अधिकार अथवा शक्ति स्रोत बहुत कुछ उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर रह गये थे। इतना अवश्य था कि देश में जहाँ-जहां गणराज्य थे वहां अवश्य अब अर्थात् बौद्ध आदि काल में भी राजा को अपनी अधिकांश शक्ति प्रजा द्वारा ही प्राप्त होती थी। इस प्रकार के राज्यों में राजा को विभिन्न शक्तियां प्रदान करने में प्रजा की इच्छा का ही अधिक हाथ रहता था।)

प्रश्न ४२. प्राचीन भारत में धन के स्वामित्व और उत्तराधिकार का परिचय दीजिये।

उत्तर—धन और उसके उत्तराधिकार का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक जीवन से जुड़ा रहता है। प्राचीन भारत का सामाजिक संगठन बड़ा सुगठित और व्यवस्थित था। तत्कालीन समाज में व्यष्टि और समष्टि का सम्बन्ध नैसर्गिक और वैज्ञानिक आधार पर निहित था। परिवार और उसके महत्व को समाज तथा उसके संचालक अच्छी तरह समझते थे। प्रत्येक परिवार समाज एक घटक माना जाता था। इसलिए समाज में गृहपति का स्थान ऊंचा माना जाता था। प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर दायित्वों का बोझ था। प्राचीन भारत में गृहपति को कई महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। उसके इस महत्वपूर्ण अधिकार को राजा भी मानता था। आयु, अनुभव और ज्ञान के आधार पर वह अपने अधिकार और दायित्वों की रक्षा करता था। परिवार के अन्य सदस्यों को उसके नियन्त्रण में रहना पड़ता था। सुविधा की दृष्टि

से हम प्राचीन भारत को निम्नांकित शीर्षकों में विभाजित कर तत्कालीन समाज में धन के स्वामित्व और उत्तराधिकार के सम्बन्ध में विचार करेंगे—

(अ) ऋग्वेद काल या पूर्व वैदिक काल।
(आ) उत्तर वैदिक काल।
(इ) सूत्र तथा स्मृतिकाल।
(ई) स्मृतिकाल के बाद का काल।

ऋग्वेदकाल या पूर्व वैदिक काल में यद्यपि खेती ओर व्यापार होने का उल्लेख मिलता है तथापि तत्कालीन जीवन पशुधन पर ही आधारित था। बैल, घोड़े, भेड़, बकरी और कुत्ते आदि ही पशुधन कहलाता था। जिसके पास जितने पशु अधिक होते थे, वह उतना ही सम्पन्न व्यक्ति माना जाता था। पशुओं के कानों पर उनके स्वामी का नाम लिखा जाता था। उसको चराने तथा उनकी देख-रेख करने वालों को गोपाल कहा जाता था। तत्कालीन समाज में धन के रूप में गाय, बैल, घोड़े आदि पशुओं तथा अच्छे गुणवान पुत्रों की गिनती की जाती थीं जिन पर गृहपति का पूर्ण नियन्त्रण होता था। वही उनका स्वामी माना जाता था। गृहपति की मृत्यु के उपरान्त ज्येष्ठ पुत्र जो आयु, अनुभव और विद्या में श्रेष्ठ होता था, वह गृहपति कहलाता था। पिता के सारे धन को उत्तराधिकार के रूप में वही प्राप्त करता था। उसके अन्य भाई आदि का पिता के धन पर कोई उत्तराधिकार न होता था। उन्हें अपने बड़े के अनुशासन में रहना पड़ता था या फिर उसके द्वारा स्वेच्छा से दिये हुए धन पर सन्तोष करना पड़ता था।

उत्तर वैदिक काल में समय की गति के साथ मनुष्यों के आर्थिक स्रोतों में भी पर्याप्त विकास हुआ। इस काल में कृषि में पर्याप्त उन्नति हुई। उद्योग व्यवसायों में इस काल में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। सोना, चांदी, लोहा, तांबा, सीसा, टीन आदि का प्रयोग किया जाने लगा। कच्ची धातुओं को गलाकर स्वर्ण निकाला जाने लगा। इस काल में भी धन के स्वामित्व और उत्तराधिकार की व्यवस्था पूर्व वैदिक काल की तरह ही रही। गृहपति ही धन का स्वामी और उत्तराधिकारी माना जाता था, अन्य पारिवारिक सदस्य उसके आश्रित।

सूत्रकाल और स्मृतिकाल में आर्थिक जीवन में सभी क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति हो गई थी। इस काल में लोग कृषि, व्यापार और उद्योग धन्धे तो करते ही थे साथ ही वेतन लेकर अपना भरण-पोषण भी करने लगे थे। ब्याज लेकर धन देने का भी प्रचलन था। ब्याज की दर दस प्रतिशत तक प्रचलित थी। वस्तुओं के दाम राज्य द्वारा व्यापारियों की राय लेकर नियत किये जाते थे। समुद्र के द्वारा भी व्यापार होता था। वस्तुओं को आयात-निर्यात का पूर्ण प्रबन्ध होता था। टैक्स आदि भी लगाये जाते थे। सोना, चांदी, तांबा, कांसा, लोहा, टीन और हीरा आदि खानों से निकाले जाते थे। धन का स्वामित्व बंट गया था। आजीविका के विभिन्न साधनों के अपना लिये जाने के कारण परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करके अपनी आजीविका चलाने लगा था। पारिवारिक सदस्यों को गृहपति के आश्रित होकर रहने की प्रथा समाप्तप्राय हो गई थी। धन पर गृहपति का एकाधिकार समाप्त हो गया था। अपने-अपने अर्जित धन के सब स्वामी थे। कुटुम्ब प्रथा धीरे-धीरे टूटकर छोटे-छोटे परिवारों में परिणत होने लगी थी। पिता

की सम्पत्ति पर उसके सभी पुत्रों का अधिकार माना जाता था। हां बड़े पुत्र को अन्य छोटे पुत्रों की अपेक्षा कुछ अधिक धन पिता की सम्पत्ति में से पाने का अधिकार था। स्त्रियों को उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त न था। वे आर्थिक या सामाजिक दृष्टि से आश्रित ही रहा करती थीं। जैसे बचपन में पिता के आश्रित, यौवन में पति के आश्रित तथा वृद्धावस्था में पुत्रों के आश्रित रहा करती थीं, उनका अधिकार केवल 'स्त्रीधन' पर माना जाता था। स्त्री धन उसे कहते थे जो समय-समय पर उन्हें माता-पिता, भाई तथा पति आदि के द्वारा उपहार में दिया जाता था। आवश्यकता पड़ने पर भी गृहपति पत्नी की अनुमति से ऋण के रूप में 'स्त्रीधन' को व्यय कर सकता था। स्त्री के मर जाने के बाद उसके स्त्रीधन की उत्तराधिकारिणी उसकी पुत्री मानी जाती थी। एक से अधिक पुत्रियां होने की दशा में स्त्रीधन उनमें बराबर बांट दिया जाता था। निःसन्तान व्यक्तियों की स्त्रियों को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना जाता था। ऐसे व्यक्तियों की सम्पत्ति उनके मरने के उपरान्त राजकोष में जमा कर दी जाती थी।

स्मृतिकाल के बाद के समय में उद्योगों एवं व्यापारों में चतुर्मुखी विकास हो गया था। धन प्राप्त करने के प्रत्येक उपायों को अपनाया जाता था। व्यापार अपने देश तक ही सीमित न होकर विदेशों तक में किया जाता था। धन के स्वामित्व और उत्तराधिकार की प्रथाएं स्मृतिकाल जैसी ही थीं। परिवार का मुख्य व्यक्ति सम्मिलित परिवार का स्वामी माना जाता था। धन का उत्तराधिकार पुरुषों को ही प्राप्त था। आर्थिक क्षेत्रों में स्त्रियों की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं थी।

परिशिष्ट क

इस पुस्तक की रचना में जिन प्रमुख ग्रन्थों से सहायता ली गई है उनकी एक सूची नीचे दी जा रही है। मेधावी छात्र विशेषाध्ययन के लिये इन पुस्तकों को अवश्य पढ़ें।

१. डा० मङ्गलदेव शास्त्री—भारतीय संस्कृति का विकास (केवल वैदिक धारा)
२. डा० राधाकुमुद मुखर्जी—हिन्दू सभ्यता
३. शिवदत्त ज्ञानी—भारतीय संस्कृति
४. कल्याण—'हिन्दू संस्कृति' अंक
५. पी० के० आचार्य—हिन्दू संस्कृति के तत्व
६. डा० राजवली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार
७. शम्भूरत्न त्रिपाठी—भारतीय समाजशास्त्र
८. रवीन्द्रनाथ मुखर्जी—भारतीय जनता तथा संस्थायें
९. रामबिहारीसिंह तोमर—भारतीय सामाजिक संस्थायें
१०. डा० मनमोहन गौतम—सरल भाषाविज्ञान
११. डा० उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
१२. डा० श्यामसुन्दर दास—भाषा-विज्ञान
१३. डा० भोलानाथ तिवारी—भाषा-विज्ञान
१४. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी—हिन्दू राज्यशास्त्र
१५. सत्यकेतु विद्यालंकार—प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था तथा राजशास्त्र

अथर्व ३।१९।६।४६ शिवा १४६

सर्व. लोकानां कृत्य छान्दोग्य ३.१४.१ शिवा ५१

आत्मवत् सर्वभूतानि ... शिवा ...

स्वधर्मे निधनं श्रेयः गीता ३।३५

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं " ४।१३

अनुद्वेगकरं वाक्यं " १७।१५

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
हिन्दी पृ० ४८३ स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्
विष्णुपुराण २।३।२४

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।
मनु० १२।९१

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।
श्रीमद्भा० ७।१४।८

" पृ० २४१ वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ---- मनु० २।६

मे माता पृथिवी महीयताम् अथर्व १२।१।३३

(यह महान् पृथ्वी मेरी माता है।) ... पृ. ७६२

वयं राष्ट्रे जागृयाम (हम राष्ट्र के लिए सदा जाग्रत रहें)
यजुर्वेद ९।२३

नमो मात्रे पृथिव्यै - मैं पृथिवी माँ को प्रणाम करता हूँ।
यजुर्वेद ९।२२